UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182896

UNIVERSAL
LIBRARY

SMANIA UNIVERSITY LIBRARY

H
o. SC Accession No. H 3497
BS7 D

This book should be returned on or before the date marked below

# 'दिव्या' : एक अध्ययन

('औपन्यासिक रचनातन्त्र'
और
'हिन्दी उपन्यास का विकास' सहित)

★

★

प्रो० महेन्द्र भटनागर
एम० ए० एल० टी०, साहित्य रत्न

प्रकाशक
दीनानाथ बुक डिपो,
खजूरी बाजार, इन्दौर

( सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन )

प्रथम-संस्करण, १९५६
मूल्य १॥)

मुद्रक
लोकमत प्रिन्टरी,
नई सड़क, इन्दौर.

# प्राक्कथन

**'दिव्या': एक अध्ययन'** छात्रोपयोगी दृष्टिकोण से लिखी गई समीक्षा-पुस्तक है। छात्रों के साथ उचित न्याय हो सके इस कारण इसमें औपन्यासिक रचना-तन्त्र और हिंदी उपन्यास के विकास से संबंधित सामग्री को भी स्थान दिया गया है।

हिंदी-उपन्यास साहित्य में यशपाल का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रेमचंद के पश्चात्, प्रथम-श्रेणी के दो-तीन उपन्यासकारों में ही उनकी गणना होती है। 'दिव्या': एक अध्ययन' उनके उपन्यासों की विस्तृत साहित्यिक समीक्षा की दिशा में एक प्रयत्न है। भविष्य में उनके समस्त उपन्यासों का, एक ही स्थान पर, आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का जब तक अवसर न आये तब तक के लिए यही।

जहाँ तक 'दिव्या' की समीक्षा का संबंध है-मैंने उन आलोचकों के विचारों को आवश्यकतानुसार उद्धृत किया है, जिन्होंने 'दिव्या' पर किसी पत्र-पत्रिका अथवा किसी पुस्तक में कुछ लिखा है। उनसे अपने मतभेद की चर्चा भी यथास्थान की है और निष्पक्ष भाव से अपनी मान्यताओं को व्यक्त किया है।

भूमिका लेखक प्राचार्य गोपालु व्यासजी के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ; जिन्होंने प्रस्तुत समीक्षा को पढ़कर अपने विचार प्रेषित किये। अपने मित्र, 'वीणा' के सहायक-सम्पादक श्री. गजानन शर्मा, एम. ए, को भी धन्यवाद देता हूँ; जिन्होंने पुस्तक के प्रूफ देखने का कष्ट किया।

आशा है, प्रस्तुत पुस्तक जिनके लिए लिखी है; उनके उपयोग में आयगी और उन्हें 'दिव्या' के समझने में इससे सहायता मिलेगी।

माधव महाविद्यालय,
उज्जैन
२६ जून, १९५६.

महेन्द्र भटनागर

# भूमिका

हिन्दी-गद्य-साहित्य के विविध रूपों में उसका उपन्यास साहित्य बहुत समृद्ध एवं गतिशील है। प्रेमचंद-युग के उपरांत भी उपन्यास की विषय-परिधि एवं शिल्प-विधान में प्रगति लक्षित होती है। आज के उपन्यास-लेखकों में कृतित्व एवं कला के कारण श्री यशपालजी को पर्याप्त यश मिला है। 'दादा कॉमरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड' और 'मनुष्य के रूप' उनके प्रख्यात उपन्यास हैं।

यशपालजी की औपन्यासिक कृतियों में 'दिव्या' का विशिष्ट स्थान है। यशपालजी के अन्यान्य उपन्यासों के विपरीत यह समसामयिक राजनीति और समाजनीति से विलग होकर अतीत—कदाचित् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी—के इतिहास के आधार पर निर्मित हुआ है। इस प्रकार 'दिव्या' में यशपालजी ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में प्रकट हुए हैं। यों तो 'दिव्या' में भी उनकी राजनीतिक विचार-धारा ने अपना आधार खोज लिया है; और यद्यपि 'दिव्या' अतीत के माध्यम से उनकी सामाजवादी विचार-धारा का वाहन है; तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'दिव्या' में यशपालजी ने अपनी कृतियों की अपेक्षा एक नए क्षेत्र में विचरण किया है। इसी नवीनता के कारण 'दिव्या' की भाषा-शैली में भी यशपालजी की प्रतिनिधि भाषा-शैली के दर्शन नहीं होते। इतिहास की दृष्टि से समीक्षकों ने 'दिव्या' की पृष्ठभूमि में कुछ असंगतियाँ और दोषों का उल्लेख भी किया है; तथापि जैसा कि हम कह चुके हैं, 'दिया' का यशपालजी की रच-

नाओं में एक विशिष्ट और निराला स्थान है।

हिन्दी में यशपाल जैसे यशस्वी उपन्यासकार की कला एवं कृतियों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक ग्रन्थ का अभी तक अभाव है, यह खेद-जनक है। मुझे प्रसन्नता है कि मेरे प्रिय शिष्य और सह-योगी प्रो० महेन्द्र भटनागर, एम. ए. ने 'दिव्या : एक अध्ययन' के रूप में यशपालजी की कला एवं कृतियों के अध्ययन की दिशा में एक प्रशंसनीय प्रयास किया है।

श्री महेन्द्रजी कवि के रूप में तो प्रख्यात हैं ही, इधर 'आधुनिक साहित्य और कला' के लेखक के रूप में उन्होंने आलोचना के क्षेत्र को भी अपनाया है। महाविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक होने के नाते वे समीक्षा-सिध्दान्तों का अध्ययन अध्यापन करते रहे हैं, फलतः उनकी समीक्षा का आधार ठोस और दृष्टिकोण स्वस्थ है।

'दिव्या : एक अध्ययन' में लेखक ने शास्त्रीय आधार पर 'दिव्या' का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है। यद्यपि यह अध्ययन विद्यार्थियों की आवश्यकता और हित को ध्यान में रखकर किया गया है; तथापि यह हिन्दी के अध्येताओं के लिये भी उपयोगी सिध्द होगा ऐसा विश्वास है।

२० जून, ५६<br>
माधव महाविद्यालय,<br>
उज्जैन

(प्राचार्य) गोपाल व्यास<br>
(एम. ए., साहित्यरत्न)<br>
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

इण्टर की छात्रा

अपनी छोटी बहन

**कुमारी प्रभा भटनागर को**

# विषय-सूची

१. उपन्यास ... ... १

(क) परिभाषा

(ख) क्षेत्र

(ग) रचनातन्त्र

(घ) प्रकार

२. हिन्दी--उपन्यास और यशपाल ... २२

३. 'दिव्या' ... ३८

(क) वस्तु और वस्तु-विन्यास

(ख) पात्र और चरित्र-चित्रण

१. दिव्या

२. पृथुसेन

३. मारिश

४. अन्य-पात्र

(ग) देशकाल

(घ) भाषा-शैली और संवाद

(ङ) दृष्टिकोण

# उपन्यास

## [परिभाषा, क्षेत्र, रचना-तन्त्र और प्रकार]

उपन्यास का उद्गम-स्थान अति प्राचीन काल से चली आई हुई कथा-कहानियाँ हैं। मनुष्य में यह एक आदिम प्रवृत्ति रही है कि वह सत्य अथवा काल्पनिक कथाओं को सुनने अथवा सुनाने में मनोरंजन अनुभव करता है। अतः कथा-कहानियों का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं मनुष्य समुदाय। जैसे जैसे मनुष्य की सामाजिक अवस्था में विकास होता गया वैसे-वैसे इन कथा-कहानियों के ढंग में भी परिवर्तन होते गये। उपन्यास मनुष्य के विकास के साथ साथ विकसित होने वाली कथा-कहानी की परम्परा का एक सुगठित रूप है।

उपन्यास, साहित्य के अन्य रूपों की तरह, नवीन युग की देन है। 'उपन्यास' शब्द संस्कृत का है। ( उप=निकट, न्यास=रखना )। लेकिन संस्कृत-वाङ्मय में 'उपन्यास' शब्द वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ और न आज के युग में उपन्यास कहलाने वाली रचना का ही कोई रूप संस्कृत में मिलता है। हमने यह कला योरोप से ली है।

उपन्यास मानव-जीवन के कथात्मक-चित्रण का नाम है। वह सम्पूर्ण जीवन का चित्र है। उसका विस्तार जीवन की तरह ही बड़ा व्यापक है। यही कारण है कि उपन्यासों का महत्त्व दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है। आधुनिक जटिल संसार की अभिव्यक्ति उपन्यास में ही अधिक सुगमता से सम्भव है।

औपन्यासिक रचनातन्त्र के अन्तर्गत निम्नलिखित तत्वों का समावेश

किया जाता है—(१) वस्तु और वस्तु विन्यास (२) पात्र और चरित्र चित्रण (३) संवाद (४) देशकाल (५) भाषा-शैली, और (६) दृष्टिकोण।

**वस्तु और वस्तु-विन्यास**—वस्तु से अभिप्राय उन उपादानों (raw materials) से है, जिन पर उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया जाता है। कुछ विचारक वस्तु को वस्तु-विन्यास से अधिक महत्व देते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है, "कोई भी वस्तु सबसे पहले अपने उपादानों से ही आँची जानी चाहिए। यदि वह जिन उपादानों से बनी है वे उपादान अच्छी जाति के हैं तो वस्तु अपने रचना सौन्दर्य के बिना भी काम की है।" लेकिन उपादानों का ही सुन्दर होना सब कुछ नहीं है। उपादानों के प्रस्तुत करने की कला भी कोई कम महत्वपूर्ण नहीं। वस्तु-विन्यास एक कला है जो कुशल कलाकार की अपेक्षा रखती है। उपर्युक्त उल्लेख का उद्देश्य अच्छे उपादानों के महत्व को कम करना नहीं है। निःसन्देह प्राथमिकता उपादानों को ही देनी चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "कला हो या न हो उपादान अगर अच्छा है तो हम कुछ न कुछ पा जाते हैं। अच्छे उपादान के साथ अच्छी कला हो तब तो कुछ पूछना ही नहीं।"

औपन्यासिक वस्तु का संघटन विभिन्न घटनाओं के क्रमिक विकास पर आधारित है। मुख्य बात सामग्री चुनने की आती है। उपन्यासकार समग्र जीवन की घटनाओं का वर्णन नहीं कर सकता। उसे सम्पूर्ण जीवन में से केवल कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का ही संग्रह करना होगा अन्यथा उसकी रचना बड़ी विस्तृत व बोझिल हो जायगी। जीवन में सभी आकर्षक नहीं है। इसके अतिरिक्त मनुष्य का जीवन बड़ा अल्पायु है। उपन्यासकार पूरे जीवन चरित्र को समेटकर न तो लिखने का अवकास ही पा सकता है और न उसको पढ़ने की पाठक से अपेक्षा ही की जा सकती है।

अतः उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की

केवल उन्हीं अनुभूतियों का संचय करे जो उसके मन्तव्य के लिए सहायक हों और अन्य बातों को छोड़ दे, तभी वह पाठकों के मन को अपनी कृति की ओर आकर्षित कर सकेगा। समय का बन्धन और आकर्षक घटनाओं के चुनाव के अतिरिक्त प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध में पाठक की कल्पना को भी बड़ा महत्व दिया है। अपने 'उपन्यास' शीर्षक लेख में उनके विचार इस प्रकार हैं—

"उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है, इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसन्द नहीं करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिये। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी।"

उपन्यासकार अपने उपन्यास की कथा एक निश्चित योजनानुसार लिखता है। उसकी कथा जीवन से सम्बन्धित रहती है। जीवन से सम्बन्ध रखने के कारण कुछ आलोचक कथा की इस पूर्व योजना को उचित नहीं समझते, क्योंकि जीवन किसी बँधी हुई योजना के अनुसार आगे नहीं बढ़ता। इसी कारण अत्याधुनिक अति यथार्थवादी उपन्यासों में कथा-वस्तु का महत्व काफी कम हो गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु उपन्यास के शरीर निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य करती है। जीवन की विच्छृङ्खलता बढ़ जाने के कारण वस्तु की एक निश्चित योजना में अन्तर आ सकता है, पर उसकी सत्ता को हटाया नहीं

जा सकता। कथावस्तु का वास्तविक जीवन से सम्बद्ध होना अनिवार्य है। उसमें कृत्रिमता नहीं होनी चाहिये। कथा की घटनाएँ एवं उनका विकास इस प्रकार हो कि पढ़ने वाले को अयथार्थ प्रतीत न हो।

लेकिन यह सब होते हुए भी उपन्यास की कथा नितान्त वास्तविक भी नहीं हो सकती। उपन्यासकार बहुत सी बातें अपनी ओर से भी जोड़ता है, और उसे जोड़नी चाहिएँ, पर वे इस प्रकार हों कि समझदार पाठक को अस्वाभाविक न लगें।

उपन्यास में कल्पना और सत्य का एक संतुलित सामञ्जस्य होना चाहिये। यह निर्विवाद है कि उपन्यास सत्य के अधिक निकट हो और कल्पना भी ऐसी हो कि पाठक उसकी वास्तविकता में जरा भी सन्देह न कर सके।

वस्तु की शरीर-रचना में इस बात पर भी पर्याप्त ध्यान रखा जाय कि उसमें दैनिक एवं असाधारण व्यापारों का अनावश्यक अथवा अनुपयुक्त स्थलों पर समावेश न हो। यह माना कि जीवन में अनेक घटनाएँ आकस्मिक रूप से घटित होती हैं, किन्तु मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि आकस्मिक घटनाएँ उपन्यास में आये ही नहीं, वरन् यह कि अमुक आकस्मिक घटना का समावेश जिस स्थल पर किया गया है, वहाँ कथा को इच्छानुसार मोड़ने का इरादा तो नहीं है। आकस्मिक मृत्यु, स्वप्न, भविष्यवाणी आदि का उपन्यास की वस्तु में समावेश एक दक्ष लेखक की अपेक्षा रखता है। उपन्यास में इस तरह के व्यापारों को कम से कम आना चाहिए। श्रेष्ठतम उपन्यासों में भी कहीं-कहीं आकस्मिक घटनाएँ मिलती हैं, पर उनको इस सुन्दर ढंग से रखा जाता है कि कट्टर से कट्टर बुद्धिवादी तक उन्हें अस्वाभाविक नहीं समझता, क्योंकि वे जीवन के अधिक निकट होती हैं। हम उन्हें चारों ओर, और कभी कभी तो स्वयं अपने जीवन में भी अनुभव करते हैं। हाँ, असाधारण व्यापारों को उपन्यास में कोई स्थान नहीं दिया जा सकता।

उपन्यास की कथा का रोचक होना भी जरूरी है। यदि कथा रोचक नहीं हुई तो पाठक का मन उसमें रम नहीं पायगा।

## पात्र और चरित्र-चित्रण

कथावस्तु के पश्चात् उपन्यास का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व चरित्र-चित्रण है। उपन्यास में चरित्र का अर्थ आचरण शास्त्र में समझा जाने वाला धर्म नहीं है। साहित्य के अन्तर्गत चरित्र का अर्थ मानव पात्रों का चित्रण है जिसका आधार मनुष्य के राग व मनोवेग हैं। अतः पात्रों के जीवन पर उपन्यास का चरित्र-चित्रण निर्भर करता है।

उपन्यासकार को प्रत्येक पात्र के चरित्र से पहले से ही अवगत होना आवश्यक है, तभी वह उन पात्रों के जीवन-संघर्षों, मनोवेगों, विचारों और क्रिया-कलापों का उचित लेखा-जोखा दे सकेगा। प्रत्येक पात्र के वैयक्तिक और बहिर्गत जीवन का सूक्ष्म अध्ययन उसके लिए अनिवार्य है। दूसरे उपन्यासकार को जीवन की उन स्थितियों से भी परिचित होना आवश्यक है जिन्होंने उसके पात्रों के मानसिक जगत का निर्माण किया है।

उपन्यास में पात्रों की संख्या-सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। श्रेष्ठ उपन्यास में भी पात्रों की संख्या पचास-साठ तक पहुँच जाती है। लेकिन पात्र बहुत अधिक नहीं होने चाहिएँ।

उपन्यास में अधिकांश पात्र पथिकों के समान आते है। वे केवल कथानक को गति देकर अथवा वातावरण, में रग भरकर चले जाते हैं। पात्रों की संख्या उपन्यास के विषय और विस्तार पर भी निर्भर है। मुख्य प्रश्न उपन्यास में नायक का है, क्योंकि नायक ही अधिकांशतः उपन्यास का केन्द्र होता है। नायक और नायक के निकट सम्पर्क रखने वाले पात्रों के सम्बन्ध में ही उपन्यासकार की विशेष रुचि होती है। ऐसे उपन्यासकारों

को. जो चरित्र-चित्रण को प्रधानता देते हैं, नायक के चित्रण में विशेष जागरूक रहना पड़ता है। प्रेमचन्द ने औपन्यासिक चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत पाठक और पात्रों के बीच में आत्मीयता के भाव उत्पन्न करना प्रधान औपन्यासिक-धर्म बताया है।

"यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्र-नायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्ही भावों को जागरित कर दे जो उसके पात्रों में हों। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है। उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।"

अतः पात्रों की मुख्य विशेषता उनकी सजीवता है। तभी पाठक और पात्रों के बीच भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं। पात्र इसी दुनिया के होने चाहिएँ। उपन्यासकार को अपनी काल्पनिक सृष्टि में ऐसे ही पात्र खड़े करने चाहिएँ जो वास्तविक मनुष्यों के समान अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में कार्य करें। उनमें असाधारणता अथवा अलौकिकता नहीं आनी चाहिए, अन्यथा या तो वे अत्यधिक व्यक्तिवादी हो जायँगे या किसी दूसरी दुनिया के, और पाठकों के मनोजगत् मे उनका तादात्म्य नहीं हो सकेगा।

माना कि पात्रों की सृष्टि उपन्यासकार स्वयं करता है, वह अपने उपन्यास के पात्रों का जनक है, पर पात्र निर्जीव नहीं होते। उनका अपना व्यक्तित्व होता है। उपन्यासकार उन्हें अपनी इच्छानुसार हिला डुला नहीं सकता। पात्र उपन्यास में एक सजीव शक्ति होते हैं। वे कटपुतली की तरह नचाये नही जा सकते। उनकी स्वतन्त्रता छीन लेने पर उपन्यास

का महत्व घट जाता है। पात्र वही काम करे जैसा कि उन परिस्थितियों में कोई भी उसी श्रेणी और संस्कार का व्यक्ति कर सकता है।

प्रेमचन्द ने चरित्र-परिवर्तन के सम्बन्ध में काफी जोरदार शब्दों में लिखा है। वे प्रत्येक चरित्र के परिवर्तन में विश्वास रखते थे। स्थिर पात्रों के उपन्यास उनकी दृष्टि में उच्चकोटि के नहीं माने जाने चाहिएँ। लेकिन यह स्मरण रखनाहै कि प्रेमचन्द ने स्वाभाविकताके साथ चरित्र परिवर्तन पर बल दिया है। चरित्रों के विकास के सम्बन्ध में वे लिखते हैं।

"उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा, उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा।..... जिस तरह किसी मनुष्य को देखते ही हम उसके मनोभावों से परिचित नही हो जाते, ज्यों-ज्यों हमारी घनिष्टता उससे बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके मनो-रहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते, बल्कि उनमें क्रमशः विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त और अस्पष्ट रूप से होता है कि पढ़ने वाले को किसी तबदीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उपन्यास से निकाल देना चाहिये, क्योंकि उपन्यास चरित्रो के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अन्त में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था, उसके बल-बुद्धि और भावों का विकास न हो तो वह असफल चरित्र है।"

उपन्यासों में चरित्र-चित्रण के दो प्रकार अथवा शैलियाँ प्रचिलित हैं:

(१) विश्लेषणात्मक

(२) रूपकात्मक

विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण मे लेखक पात्रो के विचारों, भावों,

प्रवृत्तियों, आदतों आदि का विश्लेषण करता है और स्वयं ही उनके संबंध में निर्णायक रूप से स्थल-स्थल पर अपने विचार व्यक्त करता है।

लेकिन रूपकात्मक प्रणाली में ऐसा नहीं होता। उसमें लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं बोलता। वह परिपार्श्व में रहता है। पात्र स्वयं अपने चरित्र की झलक देते हैं। यह उनके कार्यों और सम्वादों द्वारा सम्पन्न होता है। पात्र अपनी सफलताओं और दुर्बलताओं को स्वयं अनावृत करते हैं। आधुनिक उपन्यासों में रूपकात्मक प्रणाली विशेष रूप से प्रचलित है और यह है भी अधिक मनोवैज्ञानिक।

## (३) सम्वाद

सम्वादों द्वारा उपन्यासकार कथा का विकास और पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करता है। पात्रों के माध्यम से सम्वादों के द्वारा कभी कभी वह अपने जीवन-दर्शन की व्याख्या भी करता है। सुन्दर सम्वादों द्वारा उपन्यासकार पाठकों को अपने लक्ष्य की ओर आकृष्ट कर सकता है। अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिये सम्वाद बड़े चुस्त, सीधे और धारा-प्रवाह होने चाहियें।

सम्वाद प्रसंगानुकूल और स्वाभाविक हों। दैनिक जीवन में मनुष्य जिस प्रकार वार्तालाप करते हैं, उपन्यासों में भी वैसे ही सम्वाद रखे जायँ। सम्वादों की स्वाभाविकता का सम्बन्ध उनके पात्रों के मानसिक धरातल के अनुकूल होना है। जिस कोटि का पात्र हो, उसके मुख से वैसी ही भाषा और वैसे ही विचार व्यक्त करवाने चाहिएँ अन्यथा स्वाभाविकता को धक्का लगेगा। पात्र जब स्वयं बोलते हैं तब उपन्यासकार के निजी विचारों का और भाषा का स्थान गौण हो जाता है। अपने विचारों की प्रेक्षणीयता के लिए उसे उन विचारों के अनुरूप पात्रों का सृजन करना पड़ेगा, तभी वह उन विचारों को सम्वादों का रूप दे सकेगा।

सम्वाद अनावश्यक एवं अनर्गल भी नहीं होने चाहियें। इसके अतिरिक्त सबसे बडी चीज उनकी सरलता है। उपन्यास कोई शास्त्र नहीं होता है। उसमें किसी गम्भीर विषय का विवेचन अपेक्षित नहीं है। अतः रमणीयता सम्वादों की पहली शर्त है। बड़े-बड़े व दार्शनिक विचारों से बोझिल सम्वाद उपन्यास को अरुचिकर बना देते हैं।

उपन्यास में सम्वाद ही सम्वाद न हों। नाटक और उपन्यास में यही मुख्य भेद है। उपन्यास जीवन की व्याख्या भी करता है। प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना पर उपन्यासकार को अपनी टिप्पणी देनी चाहिये। ऐसा करने पर घटना बड़ी मर्मस्पर्शी हो जाती है। लेकिन अधिक सम्वाद वाले उपन्यास ही श्रेष्ठ समझे जाते हैं। लेखक को अपना वक्तव्य एक संकुचित सीमा तक रखना चाहिये।

## (४) देश-काल

देश-काल से अभिप्राय उपन्यास के अन्तर्गत वर्णित स्थान और समय से है। देश-काल में आचार-विचार, रीति नीति, चाल-ढाल, रहन-सहन, प्राकृतिक पृष्ठ भूमि (Natural Background) आदि सम्मिलित हैं। देश-काल के दो भेद किये गये हैं:—

(१) समाजगत, और
(२) भौतिक

समाजगत से तात्पर्य उच्च, मध्य अथवा निम्न वर्ग के जीवन से है। उपन्यास में जीवन की दो विभिन्न धाराएँ प्रायः पायी जाती है। चाहे वे मजदूर और पूँजीपति, प्राचीन रूढ़िग्रस्त जर्जर समाज और नवीन सामाजिक मूल्य, नारी और पुरुष आदि किसी भी रूप में हों। उपन्यास में जिस समाज का चित्रण किया जाता है उसके आचार-विचार, रीति-नीति आदि का उपन्यासकार को बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में यह तत्व बड़े महत्व का होता है।

देश-काल सम्बन्धी न्यून जानकारी के कारण कभी-कभी रचनाएँ बड़ी हास्यास्पद हो जाती हैं। लेखक को इस दिशा में विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता है। उसे ऐसे किसी भी देश अथवा काल का चित्रण नहीं करना चाहिये जिसका उसे अनुभव न हो। यह अनुभव कोई आवश्यक नहीं कि व्यक्तिगत अनुभव हो। हाँ व्यक्तिगत अनुभव से रचना में निखार आ जाता है; वह अधिक प्राणवान् हो जाती है। देश-काल सम्बन्धी बातें सामाजिक विषयों पर लिखी पुस्तकों से प्राप्त हो सकती हैं। आधार पाते ही लेखक अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा यथार्थ-चित्रण कर सकता है।

भौतिक-वर्णनों के अन्तर्गत व्यक्तियों, वस्तुओं और प्रकृति का वर्णन आता है। प्राकृतिक-संविधान कृति को अधिक मार्मिक एवं जीवन की विशालता को अधिक स्पष्ट करने के लिये किया जाता है। यह वाह्य दृश्य-विधान उपयुक्त स्थलों पर ही होना चाहिये। इसके अनुपयुक्त स्थल प्रवेश से कथा के प्रवाह में रुकावट आती है। दूसरे ये दृश्य-विधान अधिक लम्बे न होने चाहियें। निरर्थक विस्तार से भी पाठक का सम्बन्ध मूल कथा से छूट जाता है। इसका मुख्य प्रयोजन उपन्यास में शक्ति, गाम्भीर्य और सौन्दर्य की सृष्टि करना है।

## (५) भाषा-शैली

उपन्यासकार का कर्तव्य-कर्म केवल रोचक कहानी लिख देना ही नहीं है, वरन् उसे अपने पात्रों के आन्तरिक जीवन की झाँकी को भी चित्रित करना होता है। ऐसी स्थिति में उसे नाना शैलियों का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन उपन्यासकार को अति आलंकारिक एवं काव्यात्मक शैली से बचना चाहिये, क्योंकि शैली के लिए उपन्यास नहीं लिखा जाता।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहले तो भाषा में कृत्रिमता नहीं होनी चाहिये। उपन्यास में भाषा के प्रयोग करना उपन्यास-कला के विरुद्ध है। दूसरे प्रत्येक पात्र के शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक स्तर के अनुसार विभिन्न भाषारूपों का समावेश करना चाहिये। इस प्रकार की भाषा से कथा की रोचकता में चार चाँद लग जाते हैं। उपन्यास की भाषा क्लिष्ट न हो। शब्दाडम्बर से कोई रचना प्रभावोत्पादक नही बन सकती। प्रभावोत्पादकता और सजीव रचना के लिए सरल भाषा का प्रयोग अपेक्षित है।

शैली का सम्बन्ध बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर निर्भर है। जर्मन आलोचक बफन के अनुसार शैली स्वयं लेखक का व्यक्त-स्वरूप है—Style is the man himself—औपन्यासिक शैली के सम्बन्ध में पूर्णतया सत्य न भी हो, पर उपन्यासकार का व्यक्तित्व जगह-जगह उभर आता है। अतः आधुनिक उपन्यासों में लेखक के व्यक्तित्व एवं उसके दृष्टिकोण को बड़ा महत्व दिया जाता है।

## (६) दृष्टिकोण

कोई भी रचना निष्प्रयोजन नहीं की जाती है।लेखक का अपना एक निश्चित उद्देश्य अथवा दृष्टिकोण उपन्यास कला का एक अविभाज्य अंग है। ग्रेवो के मत से—"उपन्यासकार कभी भी तटस्थ नहीं रह सकता। उसका व्यक्तित्व उसकी कृति में स्पष्ट झलकता है। चाहे उसका समावेश जानबूझकर किया गया हो अथवा अनजान भाव से ही। उसके अपने विश्वास, दृष्टिकोण आदि स्वतः प्रतिबिम्बित हो उठते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने 'आख्यायिका और उपन्यास—शीर्षक लेख में लिखते हैं। "उपन्यास इसलिये स्थायी साहित्य नहीं है कि वह उपन्यास है। बल्कि इसलिए कि उसके लेखक का एक अपना जबरदस्त

मत है जिसकी सचाई के विषय में उसे पूरा विश्वास है। वैयक्तिक स्वाधीनता का यह सर्वोत्तम रूप है।...उपन्यासकार उपन्यासकार है ही नहीं, यदि उसमें वैयक्तिक दृष्टिकोण न हो। अपनी विशेष दृष्टि पर उसे पूरा विश्वास न हो और सभी चीजें उसके लिए गौण हैं।"

उपन्यासकार अपने जीवन-दर्शन को दो प्रकार से व्यक्त करता है—

(१) पात्रों तथा घटनाओं द्वारा, और

(२) स्वयं परिचय या आलोचना द्वारा।

इस आलोचना अथवा व्याख्या-कर्म में उपन्यासकार को बड़ा सचेत रहना पड़ता है। उपन्यासकार कोई आलोचक या व्याख्याकार नहीं है। वह उपदेशक और उपन्यासकार दोनों साथ-साथ नहीं बन सकता। उसे तो प्रच्छन्न रूप से ही अपने विचारों, धारणाओं और विश्वासों को व्यक्त करना होगा।

इस स्थल पर उपन्यास और नीति तत्व (morality) के सम्बन्धों की बात भी उठती है। उपन्यासों में नीति-तत्व का उपयोग अवश्य है, किन्तु वह प्रकट रूप में नहीं आना चाहिये। उपन्यास कोई धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र का ग्रन्थ नहीं होता। इसके साथ ही उपन्यासकार को नीति-तत्व की अवहेलना भी नहीं करनी चाहिए।

नीति का सम्बन्ध जीवन से है और उपन्यास जीवन का चित्र होता है। प्रत्येक कला-कृति नैतिक मूल्यों से गुँथी रहनी चाहिये यदि वह किसी महती सामाजिक उपयोगिता के लिए अथवा मनुष्य की मानसिक या आत्मिक उन्नति के लिए रचा गया सद्-साहित्य है।

उपर्युक्त तत्वों का समावेश उपन्यास-रचना के अन्तर्गत होता है, किन्तु किसी उपन्यास में किसी तत्व की प्रधानता रहती है तो किसी में

अन्य की। कोई उपन्यासकार कथानक व घटनाओं को ही मुख्य मानकर उपन्यास की रचना करता है तो कोई चरित्र को, तो कोई जीवन की किसी समस्या-विशेष को। उसकी प्रधानता का कोई भी तत्व हो सकता है। तत्वों की प्रधानता के आधार पर उपन्यास के प्रकारों का वर्गीकरण किया जाता है। यदि किसी उपन्यास में उपर्युक्त किसी तथ्य का अभाव अथवा न्यूनता है तो उसे केवल इसी कारण हम हेय या साधारण कोटि का नहीं ठहरा सकते। हमें सर्वप्रथम उसके उद्देश्य की मूल तह में बैठना पड़ेगा और उसी आधार पर उसकी कृति का यथार्थ मूल्यांकन करना होगा। आज के प्रयोग युग में आलोचना का प्राचीन शास्त्रीय ढंग एक प्रकार से उठ-सा गया है, फिर भी कुछ बातें ज्यों की-त्यों विद्यमान हैं, भले ही शास्त्रीयता का आग्रह अब न रहा हो।

## उपन्यास के प्रकार

औपन्यासिक विभेदों के दो मुख्य आधार हैं। प्रथम तो उपन्यास में किसी विशेष तत्व की प्रधानता का होना और दूसरा उद्दिष्ट विषय का विचार। इन दोनों प्रकार के उपन्यासों के उपभेद इस प्रकार किये जा सकते हैं:-

(१) तत्वों की प्रधानता के आधार पर :

(क) घटना-प्रधान
(ख) चरित्र-प्रधान
(ग) घटना-चरित्र-प्रधान

(२) उद्दिष्ट-विषय के आधार पर :

(क) ऐतिहासिक
(ख) समस्यामूलक

शैली के अनुसार भी उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाता है। उसके

ये निम्नलिखित रूप हैं:--

(१) कथा के रूप में
(२) आत्म-कथा के रूप में
(३) चिट्ठी-पत्री के रूप में

अधिकतर उपन्यास कथा के रूप में ही लिखे जाते हैं।

## घटना-प्रधान उपन्यास

घटना-प्रधान उपन्यास औपन्यासिक-विकास का प्रथम चरण है। प्रत्येक साहित्य के आरम्भिक-काल में घटना-प्रधान उपन्यासों का बाहुल्य मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन घटना-वैचित्र्य-प्रधान उपन्यासों के सम्बन्ध में लिखा है—

"घटना-वैचित्र्य-प्रधान अर्थात् केवल कुतूहलजनक, जैसे, जासूसी और वैज्ञानिक, आविष्कारों का चमत्कार दिखाने वाले। इनमें साहित्य का गुण अत्यन्त अल्प होता है-केवल इतना ही होता है कि ये आश्चर्य और कुतूहल जगाते हैं।

इन उपन्यासों में आश्चर्यजनक घटनाओं का वर्णन मात्र रहता है। ऐसे उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का मनोरंजन करना एवं उसकी कुतूहल-वृत्ति को उत्तेजित करना होता है। उपन्यासकार अद्भुत एवं असाधारण व्यापारों का समावेश करके कथा को इतनी आकर्षक तथा रोचक बना देता है कि पाठक के कौतूहल की तीव्रता बढ़ती जाती है और वह उसके पढ़ने में लीन हो जाता है। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं का घटाटोप-सा दृष्टिगोचर होता है। चमत्कारपूर्ण घटनाएँ असम्बद्ध-सी रहती हैं। उसका कोई क्रम नहीं होता। पूरे उपन्यास में केवल एक विस्मय का वातावरण व्याप्त रहता है। पात्र असाधारण व्यापार करते हैं। उनके लिये कोई वस्तु अथवा कार्य असम्भव नहीं होता। सभी

घटनाएं काल्पत होता ह ।

यह सब होते हुए भी इन उपन्यासों का एक मनोवैज्ञानिक पहलू है वह यह कि मनुष्य की वृत्तियों का इनमें रमना। पाठक सब-कुछ भूलकर ऐसे उपन्यासों में तल्लीन हो जाता है, क्योंकि वे उसकी कौतूहल-जन्य क्षुधा को तृप्ति प्रदान करते हैं। ऐसे उपन्यास की कथा तर्कबुद्धि पर आधारित नहीं होती। रोमांचकारी घटनाओं का वर्णन-मात्र ही लेखक का मुख्य उद्देश्य होता है, जिससे वह अपने पाठकों का मनोरंजन कर सके। जिस साहित्य का उदेश्य केवल मनोरंजन करना होता है वह उच्च-श्रेणी का कदापि नहीं कहला सकता। प्रेमचन्द ने लिखा है।

"साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। वह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है।"

स्पष्ट यह है कि ऐसे उपन्यास विकसित बुद्धि के मनुष्य-समुदाय को रुचिकर नहीं हो सकते। दूसरे अब बढ़ते हुए जीवन संघर्ष के कारण ऐसे उपन्यासों को पढ़ने के लिए मनुष्य के पास पर्याप्त अवकाश भी नहीं बचा।

अतः घटना-प्रधान उपन्यासों का दिन पर दिन ह्रास होता जा रहा है जो मानव-विकास के साथ साथ अनिवार्य क्रम है।

## चरित्र-प्रधान उपन्यास

दूसरे प्रकार के उपन्यास चरित्र-प्रधान होते हैं। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इन उपन्यासों में उपन्यासकार का प्रधान उद्देश्य पात्रों का चरित्रांकन होता है। ऐसे उपन्यासों की सारी सफलता का श्रेय तथा उनके आकर्षण का केन्द्र चरित्र-चित्रण ही होता है। पात्रों के जीवन की समस्त गतिविधि, उनके आचार-विचार, क्रिया-कलाप, पारस्परिक व्यवहारादि पर इतना

ध्यान रखा जाता है कि उपन्यास के अन्य तत्व गौण हो जाते हैं, या यों कहा जाय कि शेष तत्व चरित्र-चित्रण की सहायता के निमित्त ही आते हैं। कथा तक विशृङ्खल हो जाती है। पाठक ऐसे उपन्यासों को पढ़ते समय कथा के किसी निश्चित अन्त का अनुमान नहीं लगा सकता। उपन्यास के सम्मुख कोई पहले से ही गढ़ी हुई कथा नहीं रहती है। वह तो किसी पात्र विशेष के प्रकाशन के निमित्त ही लेखनी उठाता है और उसकी प्रतिभा तथा सृजनात्मक शक्ति उसी पात्र के चित्रण के चारों ओर ही केन्द्रित रहती है। कथा का विकास पात्रों की गतिविधि के अनुसार ही होता है। घटनाएँ तथा परिस्थितियाँ कोई पूर्व निर्मित नहीं होतीं, वरन् स्वयं पात्र इन घटनाओं को बनाते हैं। परिस्थितियों पर पात्र निर्भर नहीं रहते, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है।

कुछ लोग चरित्र प्रधान उपन्यासों के पात्रों को अपरिवर्तनशील रखते है। उपन्यास के आदि में वे जिन खूबियों और कमजोरियों को लेकर आते हैं उसी रूप में अन्त में दिखायी पड़ते हैं। प्रेमचन्द ऐसे उपन्यासों को अच्छा नहीं समझते। उनके मत से चरित्र में विकास होना ही चाहिये। वे पात्रों के (विशेषकर दुर्बल पात्रों के) चरित्र-परिवर्तन (convertibility) में विश्वास रखते थे।

कुछ समीक्षकों के मतानुसार चरित्र सम्बन्धी स्थिरता आवश्यक है। यह आवश्यकता विभिन्न पात्रों की रहन-सहन रीति-नीति, और चरित्रों का अन्तर बताने के निमित्त है। स्वयं पात्र को समझने के लिए भी यह जरूरी है।

चरित्र प्रधान उपन्यास उच्च-कोटि के उपन्यास समझे जाते हैं।

## घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यास

तीसरे प्रकार के उपन्यास घटना-चरित्र-प्रधान होते हैं। इनमें

घटनाओं और चरित्रों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहता है। वस्तु और चरित्र-चित्रण एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। पात्रों की गतिविधि कथा-वस्तु का निर्माण करती है और कथा वस्तु की घटनाएँ पात्रों के क्रिया-कलाप।

इस प्रकार के उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यासों से नितान्त भिन्न होते हैं। 'घटना चरित्र-प्रधान' के नामकरण से यह नहीं समझना चाहिये कि इनमें घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान के बीच का रास्ता चुना जाता है। घटना-प्रधान उपन्यासों की कथा अस्वाभाविक, असाधारण, अवैज्ञानिक तथा अलौकिक होती है, जब कि घटना-चरित्र प्रधान उपन्यासों में ऐसी बातों को कोई स्थान नहीं है। औपन्यासिक-रचनातन्त्र के अन्तर्गत वस्तु और वस्तुविन्यास के तत्व के सम्बन्ध में जो लिख आये हैं उसका ऐसे उपन्यासों में सावधानी से पालन होना चाहिए। घटनाएँ स्वाभाविक एवं परिस्थितियों के अनुकूल घटनी अनिवार्य हैं।

घटना-प्रधान उपन्यासों की तरह, चरित्र-प्रधान उपन्यास में और घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यास में विरोध नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ चरित्र-प्रधान उपन्यासों में पात्रों के चरित्रांकन पर अधिक बल देने के कारण एकरसता उत्पन्न हो जाती है, वहाँ घटना चरित्र प्रधान उपन्यासों में नाना घटनाओं के समावेश से कथा में सरसता तो आती ही है, पात्रों के चरित्र भी निखरते हैं।

इस प्रकार के उपन्यास भी उच्चकोटि के माने गये हैं। इन्हें 'नाटकीय उपन्यास' भी कहा जाता है।

## ऐतिहासिक-उपन्यास

उद्दिष्ट विषय के विचार से प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास आते हैं। ऐतिहासिक-उपन्यास किसी देश के इतिहास से सम्बद्ध रहते हैं। देश की

प्राचीन संस्कृति व उनके गौरव का चित्रण ऐसे उपन्यासों में मिलता है। ऐतिहासिक उपन्यास अतीत को हमारे सम्मुख रखते हैं।

इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे बड़ा अन्तर उनके रचनातन्त्र एवं परिस्थितियों के रखने में है। इतिहास देश में घटित होने वाली राजनीतिक घटनाओं का एक संकलन होता है जिसमें इतिहासकार की उन घटनाओं पर टिप्पणियाँ (Remarks) भी रहती है, पर ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास की केवल सूखी घटनाओं का चित्रण नहीं होता, उसमें जनश्रुतियों के आधार पर घटनाओं के बनने बिगड़ने का मार्मिक चित्रण होता है। अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो मानवीय होने पर भी प्रमाण न मिलने के कारण इतिहासकार छोड़ देता है पर उनका ऐतिहासिक उपन्यासकार की दृष्टि में इतिहास की प्रमाणित घटनाओं से कोई कम महत्व नहीं होता। ऐतिहासिक उपन्यासकार को विश्वासी बनना पड़ता है। कभी-कभी ऐतिहासिक पुरुषों के साथ इतिहासकार अन्याय भी कर जाता है जिसका परिमार्जन उपन्यासकार की उदार दृष्टि से ही सम्भव होता है। अप्रसिद्ध पात्रों का समावेश हमें इतिहास में नहीं मिलेगा। पर वे अप्रसिध्द और साधारण पात्र किस प्रकार परिस्थितियों के निर्माण में योग देते हैं उसका चित्रण हमें ऐसे उपन्यासों में ही मिलता है। अभिप्राय यह कि ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास की प्रतिलिपि नहीं होते। उनका स्वरूप उससे कहीं मानवीय, उनकी दृष्टि उससे कहीं उदार एवं उनके परिणाम उससे कहीं अधिक संगत होते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासकार को निम्नलिखित तत्वों पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है : (१)देश-काल, और (२)कल्पना

देशकाल उपन्यास-रचना का मुख्य अंग है। पर इसका महत्व ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे अधिक है। बिना इसकी पूर्णता के ऐतिहासिक उपन्यास असफल ही नहीं होता, वरन् कभी-कभी तो हास्यास्पद तक बन

जाता है। उसकी परख का प्रधान मापदण्ड देश-काल है। काल-विरुद्ध व देश विरुद्ध बातों के समावेश से ऐसे उपन्यास किसी काम के नहीं रहते। दिल्ली का वर्णन करते समय समुद्र के किनारे का दृश्य उपस्थित करना या अर्जुन के हाथ में रायफल बताना ऐसी ही बातें हैं। बारीक-से-बारीक बात को उसे ध्यान में रखना पड़ता है। अतः उसके लिए उस काल की सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक, नैतिक तथा मनोगत स्थिति का अच्छा अध्ययन अनिवार्य है। पुरातत्व का ज्ञाता ऐसे उपन्यासों में सफलता प्राप्त कर सकता है। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह जिस प्रदेश का चित्रण कर रहा है उस प्रदेश का भ्रमण करे, वहां का पर्यवेक्षण करे, वहाँ की जनता से निकट का सम्पर्क स्थापित करके जातिगत और स्थानगत तथ्यों को एकत्र करे। ऐसा करने से उसके उपन्यास में सजीवता आ जायगी। मात्र इतिहास के पोथे पढ़कर व कल्पना के सहारे इतनी सजीवता पैदा नहीं की जा सकती। घुमक्कड़ उपन्यासकार ऐसे उपन्यासों को बड़े अच्छे ढग से प्रस्तुत कर सकते हैं।

जहाँ तक कल्पना का सम्बन्ध है ऐतिहासिक उपन्यासकार की कुछ सीमाएँ हैं। उसे अपनी कल्पना-शक्ति का वहाँ तक ही उपयोग करना होगा, जहाँ तक ऐतिहासिक-सत्य का निर्वाह होता रहे। ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा उपन्यासकार नहीं कर सकता; यह उसके लिए एक बहुत बडी बन्दिश है। कल्पना और इतिहास का उसे सामंजस्य करना पड़ेगा। अन्य उपन्यास-लेखकों की तरह ऐतिहासिक उपन्यासकार कथा वस्तु के चुनाव में स्वतन्त्र नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के दो भेद किये गये हैं—

(१) ख्यातवृत और (२) मिश्र

ख्यातवृत्ति ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक वृत को ग्रहण किया जाता है। पुरातत्व के आधार पर विशुद्ध ऐतिहासिक कथा का समावेश

इनमें होता है। ऐसे उपन्यासों को ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक उपन्यास के नाम से भी पुकारा जाता है। मिश्र ऐतिहासिक उपन्यासों में ख्यातवृत का ग्रहण बहुत कम होता है।

## समस्यामूलक-उपन्यास

उपन्यास का आत्याधुनिक स्वरूप समस्यामूलक है। समस्यामूलक उपन्यास जैसा कि शब्दों से ध्वनित होता है, किसी समस्या विशेष को लेकर चलते हैं। समस्यामूलक-उपन्यास के दो भेद पाये जाते हैं:—

(१) जिसमें केवल एक समस्या हो, और (२) जिसमें एक प्रधान समस्या के साथ अन्य समस्याएँ भी गुँथी हुई हों, पर उनका स्थान गौण हो।

वास्तव में देखा जाय तो केवल एक समस्या वाले उपन्यास ही समस्यामूलक नाम से पुकारे जाने के अधिकारी हैं। दूसरे प्रकारके उपन्यास समस्या-प्रधान होते हुए भी समस्यामूलक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनका रचनातन्त्र अन्य औपन्यासिक-स्वरूपो से इतना भिन्न नहीं होता। समस्यामूलक उपन्यासों की श्रेणी में उन्हें इस कारण गिना जा सकता है कि उपन्यासकार का ध्यान उनमें भी समस्याओं पर ही केन्द्रित रहता है। स्वरूप में कुछ भिन्नता होते हुए भी उद्देश्य में एकता अवश्य मिलती है। इसके अतिरिक्त वे एक-दूसरे के अत्यधिक निकट भी हैं। विरोधी होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः समस्यामूलक उपन्यास की विस्तृत परिभाषा के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों प्रकार के उपन्यास सम्मिलित किए जा सकते हैं।

समस्यामूलक उपन्यासों का प्रचार दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। वे प्रत्येक देश में लोकप्रिय हो रहे हैं। जीवन की नाना समस्याओं का

उद्‌घाटन तथा उनका हल, यद्यपि हल सदैव अपेक्षित नहीं होता; आज के उपन्यासकार का प्रधान कार्य है। उपन्यासकार एक सामाजिक प्राणी होता है, वह अपने समय की समस्याओं से विमुख नहीं रह सकता। वास्तविक लेखक तो इन समस्याओं से तटस्थ भी नहीं रह सकते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—

"लोक या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चित्य परिस्थितियाँ खडी होती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यास का काम है।"

प्रेमचन्द साहित्य का उद्देश्य ही समस्याओं पर विचार एवं उनका हल उपस्थित करना घोषित करते हैं—

"अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नही है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्‌देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है।"

समस्यामूलक-उपन्यासकार को कला का उपयोगितावादी दृष्टिकोण ग्रहण करना पड़ता है। उसका उद्‌देश्य सामाजिक है। वैयक्तिक समस्याओं के उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कोटि में आते हैं। वे मात्र व्यक्ति (individual) के मन का विश्लेषण करते हैं, किसी सामूहिक जन-जीवन के प्रश्नों को, समस्याओं को अथवा आवश्यकताओं को सामने नहीं रखते। समस्या-मूलक उपन्यास हमारे जटिल और विभिन्न रूपात्मक संसार का दर्पण है।

---

# हिंदी-उपन्यास और यशपाल

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का आरम्भ कुछ विद्वान सैयद इंशा अल्ला खाँ की "उदयभानचरित' या "रानी केतकी की कहानी" से मानते हैं। श्री गंगाप्रसाद पांडे लिखते हैं:—

"इंशा अल्ला खां रचित "उदयभान चरित" या "रानी केतकी की कहानी" से हिन्दी उपन्यास साहित्य का आरम्भ होता है।"

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव के अनुसार:—

"हिन्दी का पहला औपन्यासिक होने का श्रेय सैयद इंशा अल्ला खाँ को ही दिया जा सकता है। उनकी "रानी केतकी की कहानी" एक छोटा सा उपन्यास है, यद्यपि लेखक ने उसे कहानी घोषित कर दिया है।"

इस पुस्तक का रचना काल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुमान से सम्वत १८५५ और १८६० के बीच का है। इंशा अल्ला खाँ स्वयं अपनी इस कृति के उद्देश्य के बारे में कहतेहैं:—

"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी की कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी पुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके बीच में न हो।...अपने मिलने वालों में से कोई एक बड़े पढ़े लिखे पुराने धुराने, डांग, बूढ़े घाग यह खटराग लाये..... और लगे कहने, यह बात होते दिखाई नही देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे

आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डोल रहे और छांव किसी की न हो। यह नहीं होने का।"

अतः यह स्पष्ट है कि लेखक का मूल उद्देश्य भाषागत प्रयोग है। उसने अपनी भाषा सम्बन्धी विद्वता बताने के निमित्त कहानी लिखी है और भाषा विकास की दृष्टि से सैयद इंशा अल्ला खाँ और उनकी इस कृति का बड़ा महत्व भी है, पर औपन्यासिक विकास के दृष्टिकोण से "रानी केतकी की कहानी" को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास (या उपन्यासिका) नहीं कहा जा सकता। उपन्यास के कुछ तत्व उसमें विद्यमान हैं, यह भले ही स्वीकार कर लिया जाय वस्तुतः देखा जाय तो यह उपन्यास न होकर एक लम्बी कहानी ही है।

सम्वत १९३४ में "भाग्यवती" नामक एक सामाजिक उपन्यास पं० श्रद्धाराम ने लिखा जिसका उस समय काफी स्वागत किया गया। पं०श्रद्धारामजी पुराने वर्णाश्रम धर्मके कट्टर समर्थक थे। उनका प्रचार क्षेत्र अधिकतर पंजाब रहा। हिन्दी के आलोचकों ने पं० श्रद्धाराम के उपयुक्त उपन्यास का उल्लेख नहीं के बराबर किया है। यदि देखा जाय तो हिन्दी उपन्यासों में "भाग्यवती" प्रथम भारतीय ढंग का उपन्यास है।

इसके उपरान्त "खड्ग विलास प्रेस" से "पूर्ण प्रकाश चन्द्र प्रभा" नाम का एक उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसके लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बताये जाते है। इस उपन्यास के प्रमाणिक रचियता के सम्बन्ध में श्री मन्मथनाथगुप्त लिखते हैं :

"अवश्य इस उपन्यास के असली रचियता कौन हैं इस सम्बन्ध में मतभेद है। शिवनन्दन सहाय के अनुसार यह किसी दूसरे व्यक्ति का अनुवाद किया हुआ है। भारतेन्दु ने केवल इसकी पाण्डुलिपि को शुद्ध कर यत्र तत्र इसमें परिवर्तन किये थे।

अस्तु। लेखक कोई भी हो यह निश्चित है कि "पूर्ण प्रकाश चन्द्र प्रभा" नामक एक और उपन्यास श्री निवासदास के पूर्व लिखा जा चुका था।

लाला श्रीनिवासदास (१८५१-८७) अँग्रेजी के अच्छे जानकार थे। उन्हें हिन्दी में सर्वप्रथम मौलिक उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में :

"अँग्रेजी ढँग का मौलिक उपन्यास पहले पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरू' ही निकला था।"

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी उपन्यास के विकास की दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' का ऐतिहासिक महत्व बहुत है। कथानक और शिल्प के विचार से यह अपने समय की पहली नवीन कृति है, जिसने आगे के लेखकों को नया मार्ग प्रदर्शित किया और हिन्दी में नये ढंग के उपन्यासों की रचना की नींव डाली।

लाला श्रीनिवास के पश्चात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई राधाकृष्णदास (सम्वत् १९२२-६४) ने "निस्सहाय हिन्दू" नामक एक छोटा सा उपन्यास लिखा। इस उपन्यास की कथावस्तु लाला श्रीनिवासदास की तरह किसी अमीर लडके के बनने बिगडने से सम्बन्ध नहीं रखती वरन् हिन्दुओं और मुसलमानों के जीवन पर दृष्टिपात करती है। अतः इसका दृष्टिकोण व्यापक है। किसी व्यक्ति विशेष तक सीमित न रहकर इसकी वस्तु सम्पूर्ण समाज से सम्बन्ध रखती है। लेकिन वस्तु विन्यास बडा शिथिल है, उसमें आकर्षण की कमी है। पात्रों की संख्या भी आवश्यकता से अधिक है, पर, प्रस्तुत पुस्तक यथार्थ के निकट है। इसमें गरीबी का काफी चित्रण है। हिन्दी में इस प्रकार का यह पहला उपन्यास है। राधाकृष्णदास प्रतिभाशाली लेखक थे। डा० रामविलास शर्मा के मत से :

'निस्सन्देह राधाकृष्णदास में एक महान उपन्यासकार की प्रतिभा बीजरूप में विद्यमान थी, यदि उसे विकास का अधिक अवसर मिलता तो प्रेमचन्द का मार्ग और भी सरल और परिष्कृत हो जाता।'

ठाकुर जगमोहनसिंह रचित 'श्यामा स्वप्न' और अम्बिकादत्त व्यास रचित 'आश्चर्य वृत्तांत' की गणना कुछ आलोचक उपन्यास की कोटि में करते हैं किन्तु वास्तव में देखा जाय तो वे उपन्यास कहलाने के अधिकारी नहीं।

पं. बालकृष्ण भट्ट (सवत १९०१-१९७१) ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक दो छोटे छोटे उपन्यास लिखे। ये दोनों उपन्यास कोई न कोई उद्देश्य को सम्मुख रखकर लिखे गये हैं, पर इनमें लम्बे लम्बे उपदेशों की भरमार है, जिसके कारण उपन्यास रोचक नहीं बन पड़े हैं। नैतिक तथ्यों के उद्घाटन के कारण ये उपन्यास बड़े नीरस और जी ऊबाने वाले होगये हैं। बालकृष्ण भट्ट की सबसे बडी विशेषता भाषागत है। उन्होंने अपनी भाषा पात्रों के अनुसार ही रखी है जो उपन्यास की स्वाभाविकता के लिये आवश्यक तत्व है। मुहावरों का भी प्रयोग भट्टजी ने जगह जगह किया है। इसी दृष्टि से पं. बालकृष्ण भट्ट का उपन्यास के विकास में महत्व है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के आदिकाल में मौलिक उपन्यासों का सृजन बहुत कम हुआ। जो भी उपन्यास लिखे गए वे साधारण कोटि में ही आते हैं। वे न तो उपान्यास के पाठक बना सके और न उपन्यासों के प्रति लोगों में रुचि ही उत्पन्न कर सके, क्योंकि उनके कथानकों में एकरसता बहुत आगई थी और वे औपन्यासिक तत्वों के उचित निर्वाह में प्रायः उदासीन भी रहते थे। इसी समय बाबू देवकीनन्दन खत्री, श्री गोपालराम गहमरी और श्री किशोरीलाल गोस्वामी नए रूप को लेकर उपन्यास क्षेत्र में आये, और अपनी रचनाओं के द्वारा लोगों में उपन्यासों

के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने में समर्थ हुए। इन लेखकों के उपन्यासों का साहित्यिक महत्व भले ही कम हो, पर इन्होंने हिन्दी उपन्यास के विकास में बड़ा योग दिया, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ये हिन्दी उपन्यास साहित्य के अग्रदूत कहे जाते हैं। इन तीनों उपन्यासकारों ने अपना अपना पृथक क्षेत्र चुना है।

बाबू देवकीनन्दन खत्री ( सन १८६२-१९१४ ) ने तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यास लिखे। इनके मुख्य उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं— शैतान, नरेन्द्रमोहिनी, कुसुमकुमारी, धीरेन्द्रवीर वा खून भरा कटोरा, काजर की कोठरी, गुप्त गोदना [केवल दो भाग, शेष तीन भाग श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने पूर्ण किये।] चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति, भूतनाथ (केवल पाँच भाग, आगे चलकर इनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने इक्कीस भागों में इसे समाप्त किया।) इत्यादि। खत्रीजी के उपर्युक्त उपन्यासों में सबसे अधिक धूम 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की ही हुई। जिनके साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महत्व के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल लिखते हैं—

'इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना वैचित्र्य रहा, रस संचार, भाव विभूति या चरित्र चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं। जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं। इससे वे साहित्य की कोटि में नहीं आते। पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनन्दन का स्मरण इस बात के लिये सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने बनाये उतने किसी और ग्रंथकार ने नहीं। 'चन्द्रकांता' पढ़ने के लिये ही न जाने कितने उर्दूजीवी लोगों ने हिंदी सीखी। चन्द्रकांता पढ़ चुकने पर वे 'चन्द्रकांता' की किस्म की कोई किताब ढूँढने में परेशान रहते थे। शुरू शुरू में 'चंद्रकांता' और 'चद्रकांता सन्तति' पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिंदी के लेखक होगये। 'चद्रकांता'

पढ़कर वे हिंदी की और प्रकार की साहित्यिक पुस्तकें भी पढ़ चले और अभ्यास हो जाने पर कुछ लिखने भी लगे।

यदि मनोरंजन ही उपन्यास का उद्देश्य समझा जाय तो खत्रीजी के उपन्यास महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, हो सकता है, कुछ लोगों को उनका मनोरंजन निम्नकोटि का प्रतीत हो । लेखक ने कुतूहल उत्पन्न करने के लिए कथानक में अस्वाभाविकता का खूब समावेश किया है। घटनाओं का बड़ा जटिल जाल सा इनके उपन्यासों में फैला रहता है, पर अंत में उसे समेट अवश्य लेते हैं।

आगे चलकर बाबू देवकीनंदन खत्री के तिलिस्मी मार्ग पर अनेक लेखक निकल पड़े और जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है — 'शायद अभी तक यह शौक बिलकुल ठण्डा नहीं हुआ है ।' खत्रीजी के तिलिस्म और ऐयारी के क्षेत्र में बाबू हरिकृष्ण जौहर ने काफी लिखा ।

इसके बाद श्री गोपालराम गहमरी(संवत १९२३)की उपन्यास साधना आती है। गहमरीजी जासूसी उपन्यास क्षेत्र में आए । हिंदी के लिये ये जासूसी उपन्यास एकदम नवीन थे। स्वयं के आकर्षण के अतिरिक्त नवीनता के कारण भी इन जासूसी उपन्यासों का बड़ा स्वागत हुआ । जासूसी उपन्यास भारत में योरोप से आये हैं और इनका प्रचार अभी भी कम नहीं हुआ है । श्री गोपालरामजी ने कोई डेढ़ सौ छोटे बड़े उपन्यास लिखे और अनुवाद किये। इनके मौलिक उपन्यासों के कुछ नाम इस प्रकार हैं– रहस्य विप्लव, होली का हर भोंग, जासूस की बुध्दि, इसा देवी दो लाख रुपया, भयंकर भेद आदि बड़े उपन्यास, गुमनाम चिट्ठी, सच्ची घटना, कैदी की करामात, चित्रा में चलो सैंया, लडकी की चोरी, सोहनी गायब, पिशाच लीला आदि छोटे उपन्यास तथा जासूस की डाली, छः मामले, जासूसी गुलदस्ता आदि अत्यधिक

छोटे उपन्यास अथवा कहानियों के संग्रह हैं। उपर्युक्त पुस्तकों में से श्री गहमरीजी की सबसे प्रिय पुस्तकें 'छः मामले' और 'जासूस की डाली' हैं।

मई सन १६०० में गहमरीजी ने 'जासूस' नामक मासिक पत्र निकला और सन् १६३०-३४ तक उसमें जासूसी उपन्यास लिखते रहे। गहमरीजी के उपन्यासों में पात्रों की संख्या अधिक नहीं मिलती। चरित्र चित्रण का किंचित आभास भी इनकी कृतियों में मिलता है। इनकी भाषा भी बड़ी वक्रतापूर्ण एवं मुहावरेदार है।

इनके बाद हिंदी उपन्यास के विकास के तीसरे अग्रदूत श्रीकिशोरीलाल गोस्वामी आते हैं। श्री किशोरीलाल गोस्वामीजी (संवत् १६२२-१६८६) ने लगभग ६५ छोटे बड़े उपन्यास लिखे हैं, मुख्य उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं— चपला वा नव्य समाज चित्र, लखनऊ की कब्र का शाही महलसरा, तारा, रजिया बेगम, मल्लिका देवी या बगसरोजिनी, तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी, हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी, लवंगलता वा आदर्शबाला, याकूती तख्ती वा यमज सहोदरा, कटे मूड़ की दो दो बातें वा तिलस्मी शीशमहल, कनक कुसुम वा मस्तानी, सुख शर्वरी, पुनर्जन्म वा सौतिया दाह, प्रेममयी, गुल बहार, इंदुमती वा वन विहंगिनी, लावण्यमयी, प्रणयिनी, परिणय, जिंदे की लाश, चन्द्रावती वा कुलटा कुतूहल, चन्द्रिका वा जड़ाऊ चम्पाकली, हीराबाई वा बेहयायी का बोरका, शोणित तर्पण आदि।

किशोरीलालजी ने सामाजिक, ऐतिहासिक और ऐयारी तीनों प्रकार के उपन्यास लिखे हैं। हिंदी उपन्यास के विकास में इनका देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी से कहीं अधिक महत्व है। आचार्य शुक्ल के मत से—

"उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार

पं०किशोरीलाल गोस्वामी हैं, जिनकी रचनाएँ साहित्य कोटि में आती हैं। इनके उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूप रंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र चित्रण भी अवश्य पाया जाता है।'

'साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिंदी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिये।'

गहमरीजी की तरह इन्होंने भी एक पत्र संवत् १९५५ में 'उपन्यास' नाम से निकाला था। श्री किशोरीलाल गोस्वामीजी ने सर्वप्रथम हिंदी में सामाजिक उपन्यास लिखे और हिंदी उपन्यासों को नई दिशा दी अवश्य, पर, उनकी कृतियां कहीं कहीं बडी हल्की होगई हैं।

श्री गोस्वामीजी के पश्चात संवत् १९५६ में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'ठेठ हिंदी का ठाट' नामक उपन्यास लिखा। आठ वर्ष बाद संवत १९६४ में हरिऔधजी ने 'अधखिला फूल' नामक दूसरा उपन्यास लिखा। 'हरिऔधजी' के उपन्यासों में केवल भाषा का चमत्कार है। उन्होंने ये दोनों उपन्यास भाषा के दृष्टिकोण से ही लिखे, उपन्यास कला के विचार से नहीं। अतः ये उपन्यास हिंदी उपन्यास के विकास में कोई योग नहीं देते।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के साथ ही पं० लज्जाराम मेहता ने भी कुछ उपन्यास लिखे। पं० लज्जाराम मेहता पत्रकार थे। इनके मुख्य उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं— धूर्त रसिकलाल (सं. १९५६), हिन्दू गृहस्थ, आदर्श दम्पति, (१९६१), बिगड़े का सुधार (१९६४) और आदर्श हिंदू (१९७२) मेहताजी के ये उपन्यास कोई न कोई उद्देश्य को लेकर लिखे गये हैं। लेखक का लक्ष्य हिन्दू धर्म, हिंदू पारिवारिक व्यवस्था आदि की उपयुक्तता बताना है। वास्तव में पं० लज्जाराम मेहता पत्रकार थे, उन्हें उपन्यास क्षेत्र में विशेष सफलता नहीं मिली।

बँग भाषा के अनुकरण पर श्री ब्रजनन्दन सहाय, बी. ए. ने संवत १९६९ में 'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकांत' नामक दो उपन्यास लिखे। भावों और मनोविकारों की सूक्ष्म योजना मात्र के कारण ये भी उपन्यास क्षेत्र में ख्यात न हो सके।

और सम्वत् १९६९ के बाद हिंदी उपन्यास साहित्य में एक युगांतर होता है। जिसके प्रवर्तक प्रेमचन्द एक नई शक्ति, नई कला और नई विचारधारा लेकर आते हैं। प्रेमचन्द हिंदी उपन्यास साहित्य में एक नई परम्परा के जनक हैं। जनता ने उन्हें 'उपन्यास सम्राट' की पदवी दी है।

प्रेमचन्द (सन् १८८०-१९३६) ने हिन्दी में सर्व प्रथम समस्यामूलक उपन्यासों का सृजन किया। उनके प्रत्येक उपन्यास में किसी-न किसी समस्या को उठाया गया है। समस्याओं का क्षेत्र राजनीतिक, सामाजिक और पारिवारिक है। प्रेमचन्द ने इन समस्यायों को मात्र हमारे सामने ही नहीं रखा वरन् उनका हल भी सुझाया है। उनके उपन्यासों का क्रम इस प्रकार है—वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि, गोदान और मंगलसूत्र (अपूर्ण)। प्रेमचन्द प्रगतिशील साहित्यकार थे। वे 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त के घोर विरोधी थे। उनका सिद्धान्त 'कला जीवन के लिए' था। उन्होंने अपनी दृष्टि यथार्थ पर केन्द्रित रखी, पर वे अति यथार्थ अथवा नग्न यथार्थ के समर्थक न थे। व्यावहारिक आदर्शवाद उनके यथार्थ में घुला मिला है। स्वयं प्रेमचन्द ने अपनी विचारधारा को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की संज्ञा दी है। प्रेमचन्द हिन्दी के अभी भी सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार हैं। उनकी औपन्यासिक परम्परा आज भी जीवित है। आधुनिक उपन्यास-कार उनकी परम्परा का अंग बनने में गौरव अनुभव करते हैं।

जयशंकर प्रसाद (१८८९-१९२७) ने भी हिन्दी उपन्यास के विकास

में महत्वपूर्ण योग दिया। उन्होंने केवल तीन उपन्यास ही लिखे—कंकाल, तितली और इरावती। 'कंकाल' में मानवी-प्रवृत्तियों और सामाजिक-व्यवधानों के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न होने वाली असंगतियों और विषमताओं का चित्रण किया गया है। इस चित्रण में व्यंग्य की प्रधानता है। समाज के तिरस्कृत और पददलित पात्रों के प्रति अपार सहानुभूति प्रस्तुत उपन्यास में प्रसादजी ने व्यक्त की है। 'तितली' में हिन्दू-नारी और दांपत्य-जीवन के सुन्दर चित्र मिलते हैं। 'इरावती' उनका अपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास है। प्रसादजी के उपन्यास प्रायः चरित्र-प्रधान हैं, पर सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रसादजी जहां अपने कवि या नाटककार के रूप में अत्यधिक भावुक और आदर्शवादी हैं वहां उपन्यासकार के रूप में एक दम यथार्थवादी हो गए हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (१८९१-१९४५) प्रेमचन्द के सर्वाधिक निकट के उपन्यासकार हैं। 'माँ' और 'भिखारिणी' अपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। कौशिकजी के कथानकों में मार्मिक सम्वेदना का समावेश विशेष रूप से मिलता है। 'माँ' में दो माताओं का तुलनात्मक चरित्र वर्णित है। 'भिखारिणी' में भारतीय नारी के आदर्श प्रेम और त्याग की कथा है।

चन्डी प्रसाद 'हृदयेश' ने 'मंगल प्रभात' और 'मनोरमा' नामक उपन्यास लिखे, जिनमें भारतीय वर्णन-प्रणाली मिलती है—भाव प्रधान और अलंकृत-भाषा-युक्त। चतुरसेन शास्त्री प्रकृतवादी उपन्यासकार हैं। 'वैशाली की नगर वधू' इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है।

वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के लोकप्रिय ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। वर्माजी के उपन्यास अधिकतर बुन्देलखण्ड के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। इनके उपन्यासों में प्रेम व रोमान्स का अपूर्व चित्रण मिलता है। कला की दृष्टि से भी वे सफल हैं। 'विराटा की पद्मिनी' 'कचनार' 'झाँसी की रानी' 'मृगनयनी' आदि आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। वर्माजी ने सामाजिक

उपन्यास भी लिखे हैं। 'लगन' 'संगम', 'कुन्डलीचक्र' आदि सामाजिक-उपन्यास की कोटि में आते हैं।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अपने उपन्यासों में प्रकृतवादी नग्न चित्रण किया है। 'दिल्ली का दलाल' 'चन्द हसीनों के खतूत' 'जीजीजी' आदि आपके प्रमुख उपन्यास हैं। 'उग्रजी' के उपन्यासों में व्यंग्य छिपा रहता है। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है।

ऋषभचरण जैन ने अनेक उपन्यास लिखे। प्रारम्भ में इन पर प्रेमचन्द का काफी प्रभाव पडा, पर आगे चलकर वे नग्न यथार्थ की ओर झुक गए। 'दिल्ली का व्यभिचार', 'दुराचार के अड्डे', 'वेश्यापुत्र', 'चांदनी रात' आदि आपके ऐसे ही उपन्यास हैं। ऋषभचरणजी की भाषा बडी सजीव होती है।

आगे चलकर जैनेन्द्र कुमार ने हिंदी-उपन्यास को नई दिशा दी। उन्होंने मनोवैज्ञानिक समस्याओं को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। आपके उपन्यास विचार-प्रधान हैं, जिनमें अनोखे चरित्रों का सृजन किया गया है एवं पुरुष और नारी के प्रेम की समस्या को प्रधानता दी गई है। जैनेन्द्र पर शरद बाबू और टाल्सटाय का पर्याप्त प्रभाव है। 'परख' 'त्यागपत्र', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', व्यतीत आदि आपके उपन्यासों का हिंदी साहित्य में विशिष्ट स्थान है।

इलाचंद्र जोशी ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे, जिनका आधार फ्रायड, एडलर और युंग के सिद्धांत हैं, पर उपन्यासों में कोई गहराई नहीं है। उन्होंने स्वस्थ पात्रों का सृजन नहीं किया, यद्यपि उपन्यासकला की दृष्टि से इनकी कृतियाँ सफल हैं। 'सन्यासी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित' 'जहाज का पंछी' आपके प्रमुख उपन्यास हैं। आपने अधिकतर शुद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है, पर व्याकरण संबंधी अशुद्धियां जगह-जगह मिलती हैं।

सियारामशरण गुप्त ने 'गोद', 'अंतिम आकांक्षा', 'नारी', और भूल-सत्य' उपन्यास लिखे। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने पश्चिमी सभ्यता में डूबे हुए भारतीय अभिजात वर्ग का चित्रण किया है। आपके उपन्यास हैं—'विदा', विजय', 'विकास'. 'आशीर्वाद', 'पाप की ओर' आदि। भगवतीचरण वर्मा का सर्वोत्तम उन्पयास 'चित्रलेखा' है। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'तीन वर्ष' और 'आखिरी दांव' आपके अन्य उपन्यास हैं। 'चित्रलेखा' को छोड़कर आपके भी उपन्यास फ्रायड के सिद्धांतों से प्रभावित हैं। राधिकारमण प्रसादसिंह, एवं श्रीनाथसिंह ने भी हिंदी उपन्यास के विकास में काफी योग दिया है।

आधुनिक उपन्यासकारों में यशपाल के अतिरिक्त 'अज्ञेय ( शेखरः एक जीवनी [दो भाग], नदी के द्वीप ), सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (अप्सरा, अलका, निरुपमा, प्रभावती, कुल्ली भाँट, बिल्लेसुर बकरिहा, चोटी की पकड़), भगवतीप्रसाद वाजपेयी (प्रेमपथ, लालिमा, पिपासा, पतिता की साधना, दो बहनें, निमन्त्रण), उषादेवी मित्रा (वचन का मोल) नरोत्तमप्रसाद नागर (दिन के तारे), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (सितारों का खेल, गिरती दिवारें, गरम राख), उदयशकर भट्ट (वह जो मैंने देखा), रांगेय राघव (घरौंदे, विषाद मठ, सीधा सादा रास्ता), 'अंचल' (चढ़ती धूप, उल्का, नई इमारत, मरु द्वीप), राहुल सांकृत्यायन, (जय यौधेय, सिंह-सेनापति) पहाड़ी (सरायें, चलचित्र), अमृतराय (बीज), नागार्जुन (बल-चनवा, नई पौध, बाबा बटेश्वरनाथ), धर्मवीर भारती ( गुनाहों के देवता, सूरज का सांतवां घोड़ा), डॉ. देवराज (पथ की खोज, बाहर भीतर), विष्णु प्रभाकर, (ढलती रात ), मन्मथनाथ गुप्त, रेणु ( मैला आंचल) आदि अन्य उपन्यासकार है जो हिन्दी-उपन्यास के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दे रहे है।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में दो धाराएँ स्पष्ट दखाई देती हैं . एक प्रगतिशील उपन्यासकारों की है जो वर्तमान जन-जीवन की समस्याओं को

अपने उपन्यासों का आधार बनाते हैं और दूसरी धारा मनोविश्लेषण की सूक्ष्मताओं को अपनाने वालों का है। यशपाल की गणना प्रगतिशील उपन्यासकारों में की जाती है; यद्यपि प्रगतिवादी समीक्षा-सिद्धांतों की दृष्टि से उनके उपन्यासों में अनेक खामियां हैं।

## यशपाल के उपन्यास

यशपाल जी मार्क्स के सिध्दांतों में आस्था रखते हैं। उनके उपन्यासों में इसी कारण मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट झलकता है, पर यौन सम्बन्धों की व्याख्या में वे कहीं-कहीं बड़े चटकीले हो गए हैं। उन्होंने स्त्री पुरुष से सम्बन्धित समाज की मान्यताओं पर खुलकर प्रहार किया है। इस प्रक्रिया में उनके उपन्यास नैतिक मूल्यों को चुनौती तो देते हैं, पर सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उन स्थलों पर अहितकर प्रतीत होते हैं। इस प्रमुख दुर्बलता के होते हुए भी यशपाल के उपन्यास व्यापक जन-जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस प्रकार वे वर्तमान सामाजिक वर्ग-वैषम्य पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

उनके उपन्यासों का रचना काल इस प्रकार है— दादा कामरेड १९४१, देशद्रोही १९४३, दिव्या १९४५, पार्टी कामरेड, १९४६, पक्का कदम (रूपान्तर) १९४९ और मनुष्य के रूप १९४९।

'दादा कामरेड' हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का प्रथम उपन्यास है जिसमें राजनीतिक,सामाजिक तत्त्व और रोमांस का मिश्रण हुआ है। शिवनारायण श्रीवास्तव अपनी पुस्तक 'हिंदी उपन्यास' में 'दादा कामरेड' के राजनीतिक और सामाजिक पक्ष का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं, 'अपने इस उद्देश्य में तो वे पर्याप्त सफल रहे, किन्तु इससे उच्चतर कलाकार का जो उद्देश्य होता है उसकी पूर्ति इसमें पूरी-पूरी तरह नहीं हो पाई। यह अवश्य है कि उपन्यास पर्याप्त मनोरंजक है, वर्णन प्रणाली आकर्षक

है तथा वातावरण का सजीव चित्रण है। इस उपन्यास में यशपाल ने ऐसा क्षेत्र चुना है जो हिन्दी के लिये अछूता था। यदि थोड़ीसी कलात्मक तटस्थता वे रख पाते तो यह अपने ढंग का अनोखा उपन्यास होता।" 'दादा कामरेड' में नारी सम्बन्धी सामाजिक परम्पराओं और मर्यादाओं के प्रति विद्रोह की भावना प्रमुख रूप से व्यक्त हुई है। शैला का हरीश का गर्भ लेकर 'दादा कामरेड' के साथ जाना इसका प्रमाण है। तत्काल राजनीतिक स्थिति का बड़ा सजीव चित्रण भी 'दादा कामरेड' में मिलता है।

'देशद्रोही' यशपाल का दूसरा उपन्यास है। यह उपन्यास भी साम्यवादी दृष्टिकोण लेकर चला है, और उनके अन्य उपन्यासों की तरह इसमें भी रोमांस इतना घुला मिला है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि 'देशद्रोही' समाजवादी यथार्थ की कृति है अथवा रोमांटिक यथार्थ की। 'देशद्रोही' औपन्यासिक कला की दृष्टि से साधारण कोटि का उपन्यास ठहरता है। इसमें यशपाल का उपन्यासकार का रूप दब गया है। लेखक ने सिध्दांत चर्चा को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है, जिसके कारण कथानक में नीरसता आ गई है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानों लेखक का उद्देश्य ही गांधीवाद की आलोचना और रूसी समाजवाद का समर्थन करना है। यह कार्य उसने व्यंग्य के माध्यम से किया है। इसमें चाहे वह सफल भी मान लिया जाय, पर इससे उसका उपन्यासकार का व्यक्तित्व नहीं— एक राजनीतिक इतिहासकार का व्यक्तित्व ही सामने आता है। इसके अतिरिक्त 'देशद्रोही' के पात्र भी अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते। वे लेखक की इच्छानुसार क्रिया कलाप करते हैं। देशकाल के चित्रण में अवश्य यशपालजी को असाधारण सफलता मिली है। 'देशद्रोही' के नायक डा. भगवानदास खन्ना के माध्यम से उपन्यासकार यह बताना चाहता है कि सन् १९४२ के आन्दोलन से सम्बन्धित भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नीति देशद्रोह

की नीति नहीं थी और डा. खन्ना जैसे व्यक्ति देशद्रोही नहीं कहे जा सकते। पर अन्त में यह बताना कठिन है कि डा. खन्ना का सैध्दांतिक पक्ष प्रमुख है अथवा प्रेम का।

'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' की परम्परा से विलग यशपालजी का तीसरा उपन्यास 'दिव्या' प्रकाशित हुआ। 'दिव्या' बौद्ध युग से सम्बन्धित ऐतिहासिक उपन्यास है। कला की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास साहित्य में दिव्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका वैचारिक पक्ष भी बड़ा सशक्त है। उपन्यास का प्रमुख पात्र मारिश, जो लेखक के विचारों का वाहक है, भौतिकवादी जीवन दर्शन की प्रतिष्ठा करता है। दिव्या के चरित्र में संघर्षशील भारतीय नारी की परम्परा को देखा जा सकता है।

'दिव्या' के पश्चात एक छोटा-सा उपन्यास 'पार्टी कामरेड' और एक अनूदित अथवा रूपान्तरित उपन्यास 'पक्का कदम' प्रकाश में आए। 'पार्टी कामरेड' में नौ सैनिक विद्रोह एवं अंग्रेज सरकार के दमन तथा भारतीय जनता के प्रतिरोध का चित्रण है। पर, यहां भी दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' की तरह वैयक्तिक प्रेम-पक्ष सामाजिक पक्ष को दबा देता है। कम्युनिस्ट लड़की गीता एक लखपति किन्तु आवारा व्यक्ति मावारिया को अपने प्रेम से सुधार लेती है; और मावारिया नौ-सैनिक विद्रोह में इस प्रेम के कारण ही, बलि हो जाता है।

यशपाल का नवीनतम और श्रेष्ठ उपन्यास 'मनुष्य के रूप' है। यह हमारी वर्तमान समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसमें यह बताया गया है कि एक मनुष्य का रूप क्या से क्या हो सकता है। उपन्यास में सोमा नामक नारी का चित्रण ही प्रमुख है अतः 'मनुष्य के रूप' में 'पुरुष के रूपों' की अपेक्षा 'नारी के रूपों' का विवरण प्रधान है। यह एक सामाजिक उपन्यास है। अन्य उपन्यासों की तरह इस पर भी मार्क्सवादी दर्शन की छाप है। पर, इसमें सैद्धान्तिक-तत्त्व औपन्यासिकता को दबा नहीं

लेता है, यद्यपि ध्वनि यही निकलती है कि वर्तमान समाज की समस्त विकृतियों को दूर करने के लिए साम्यवादी व्यवस्था ही श्रेयस्कर है। भूषण नामक पात्र का चरित्र मार्क्सवादी दर्शन को मुखर करता है, पर यशपाल ने सैद्धांतिक निरूपण में पर्याप्त संयम से काम लिया है। उन्होंने इस उपन्यास में तत्कालीन भारतीय जनता की यथार्थ स्थिति का चित्रण किया है।

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में यशपाल के उपर्युक्त उपन्यास उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्थापित करते हैं। प्रेमचन्द के बाद प्रगतिशील उपन्यासकारों में यशपाल का स्थान सर्वोपरि है। उनके उपन्यास उनकी प्रतिभा, विशाल अनुभव-क्षेत्र, और प्रखर सामाजिक चेतना के परिचायक हैं। वे एक जागरूक और समर्थ कथाकार हैं। उनकी कला में स्पष्टता है। आर्थिक संघर्ष का यथार्थ चित्र है। पर, यशपाल के उपन्यासों की सबसे बड़ी दुर्बलता उसमें पाये जाने वाले नारी के नग्न या अर्द्ध नग्न चित्र हैं, जिनके कारण उनका महत्व घट जाता है। दूसरे प्रेम-तत्व प्रधान हो जाने के कारण भी वे समाजवादी यथार्थ की सीमा से बाहर पड़ जाते हैं। उनके नवीनतम उपन्यास 'मनुष्य के रूप' को देखते यह बात स्पष्ट है कि यशपाल की कला निखर रही है और वह प्रौढ़ से प्रौढ़तर होती जा रही है।

# दिव्या

## वस्तु और वस्तु-विन्यास

### ( १ )

दिव्या ब्राह्मण कुल की कुमारी है। माता पिता की असमय मृत्यु हो जाने के कारण उसका पालन-पोषण प्रपितामह सागल के धर्मस्थ देवशर्मा के यहां हुआ। धर्मस्थ देवशर्मा बड़े उदार विचारों के थे— उनमें साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं थी। उनके पास रहकर दिव्या ने पर्याप्त ज्ञानार्जन किया। राजनर्तकी और कला की अधिष्ठात्री देवी मल्लिका ने दिव्या को नृत्य और संगीत की शिक्षा दी। अपनी कला-साधना में दिव्या को सफलता मिली जिसके फलस्वरूप उसे 'सरस्वती-पुत्री' का सम्मानपूर्ण पद प्राप्त हुआ और वह मल्लिका की उत्तराधिकारिणी समझी जाने लगी।

'मधुपर्व' के अवसर पर दिव्या का आदर करने के लिये और सागल के वीर युवकों के शस्त्र-कौशल की परीक्षा लेने के लिये एक आयोजन किया गया। युवकों में श्रेष्ठि-पुत्र पृथुसेन को सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी घोषित किया गया। सागल की तत्कालीन प्रथा के अनुसार 'सरस्वती पुत्री' का सम्मान पाने वाली युवती की, पुष्पों से आच्छादित शिविका, अभिजात-वंश के युवक अपने कन्धों पर रखकर, उस युवती के गृह द्वार तक ले जाते थे। पृथुसेन ने भी शिविका में कन्धा लगाना चाहा, पर ब्राह्मण कुल के रुद्रधीर ने उसे ललकारा, "दास-पुत्र को अभिजात-वंश के युवकों के साथ शिविका में कन्धा देने का अधिकार नहीं।" पृथुसेन का पिता किसी समय दास था, पर आगे चलकर दासों का व्यापार करके नगर का प्रमुख

श्रेष्ठि हो गया था। रुद्रधीर के व्यवहार से पृथुसेन बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसके मन में वर्ण व्यवस्था के प्रति आक्रोश भर गया। इसी आक्रोश ने पृथुसेन को राजनीतिक षडयन्त्रों और महत्वाकांक्षाओं की ओर उन्मुख किया।

दिव्या को पृथुसेन के प्रति सहानुभूति थी। पृथुसेन के पराक्रम और स्वाभिमान ने उसे और आकर्षित किया और वह पृथुसेन को चाहने लगी। दिव्या और पृथुसेन दोनों मल्लिका के संगीत समाज में और फिर एकांत में मिला करते। दिव्या गर्भवती हो गई।

इसी बीच यवन नृपति केन्द्रस की आक्रमक कार्रवाइयों के कारण मद्र राज्य की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन हुए। पृथुसेन को अपमानित करने के फलस्वरूप रुद्रधीर को एक सहस्त्र दिवस के लिये मद्र-राज्य से निर्वासन का दंड दिया गया। पृथुसेन सेनापति बनकर केन्द्रस से लड़ने मोर्चे पर चला गया। गर्भवती दिव्या, विरहिणी की दशा में, पृथुसेन के लौट आने की प्रतीक्षा करने लगी।

चार-छह माह पश्चात् पृथुसेन युद्ध से वापस आया— विजयी, किंतु आहत अवस्था में। महासेनापति गणपति मिथोद्रस की पौत्री सीरो घायल पृथुसेन की परिचर्या करने लगी। इधर दिव्या का गर्भ पूर्ण होने को आया। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह पृथुसेन से नहीं मिल सकी। एक दिन वह प्रेस्थ के प्रासाद में गई, पर सीरो के नियन्त्रण के कारण सोते हुए पृथुसेन को जगा न सकी। उसे बिना मिले ही वापस जाना पड़ा। जागने पर पृथुसेन को दिव्या के आगमन और लौट जाने का समाचार मालूम पड़ा। दिव्या ने उसके जागने तक प्रतीक्षा क्यों नहीं की?—यह प्रश्न पृथुसेन को व्याकुल करने लगा। उसने इसका कारण कुल अभिमान अथवा किसी अन्य का प्रबल आकर्षण समझा।

पृथुसेन उदास रहने लगा। विलास की प्रचुर सामग्री और सीरो के होते हुए भी उसका मन दिव्या में डूबा रहता। एक दिन उसने अपने पिता प्रेस्थ से दिव्यासे मिलने और विवाह करनेकी अपनी पूर्व प्रतिज्ञाका उल्लेख किया। प्रेस्थ घोर अवसरवादी व्यक्ति था। उसते पृथुसेन को बताया कि एक समय था जबकि धर्मस्थ की कन्या दिव्या से विवाह करना उचित था, पर अब उससे कहीं श्रेष्ठ गणपति की कन्या सीरो से विवाह करना है। पिता की कूटनीति के सामने पृथुसेन कुछ न कर सका और उसे विवश होकर सीरो से विवाह करना पडा।

गर्भवती दिव्या बडी उलझन में पड गई। पारिवारिक कुलीनता को बचाने के लिए वह अपनी धाता के साथ घर से निकल पडी और दुर्भाग्यवश एक नारी विक्रेता के हाथों पड मथुरा में बेच दी गई। मथुरा में ही उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। मथुरा में एक ब्राह्मण परिवार के यहां दासी का काम करते हुए उसे असह्य यातना मिली और उससे छुटकारा पाने के लिए वह एक दिन उस ब्राह्मण के घर से भागकर शरण पाने के उद्देश्य से, बौद्ध-विहार पहुंची। विहार में दिव्या को स्थान नहीं मिल सका, क्योंकि नियमानुसार स्त्री के अभिभावक की अनुमति के बिना संघ स्त्री को शरण देने में असमर्थ था। दिव्या ने जब संघ स्थविर से तथागत और वेश्या अम्बपाली की घटना का उल्लेख किया तो स्थविर ने कहा, "वेश्या स्वतन्त्र नारी है देवी!"

भूखी प्यासी और हताश दिव्या अपने पुत्र शाकुल को लिये मथुरा के पथों पर भटकती रही। इस बीच किसी ने बताया कि यमुना तट पर पद्मनाभ नामक श्रेष्ठि दीनों-निराश्रितों को भोजनदे परलोक के लिये पुण्य संचय कर रहा है। वह भोजन पाने की आशा से उसी दिशा में चल पडी। सहसा स्वर सुनाई दिया, "पकडो-पकडो! भगोडी दासी भागी जा रही है।" यह स्वर उस ब्राम्हण स्वामी का था। जिसके घर से दिव्या भागी थी और लोगों ने भी उसे पकडने का प्रयत्न किया। बचने का

कोई मार्ग न पा दिव्या अपने पुत्र समेत यमुना में कूद पडी।

पर, यमुना में नौका-विहार करती राज-नर्तकी रत्नप्रभा द्वारा वह बचा ली गई; किन्तु उसका बच्चा मर गया। दिव्या 'अंशुमाला' के नाम से रत्नप्रभा के यहां नर्तकी बनकर रहने लगी। उसका स्वास्थ्य और सौन्दर्य पुनः लौट आया। धीरे-धीरे 'अंशुमाला' की नृत्यकला की कीर्ति दूर-दूर फैलने लगी।

रत्नप्रभा के यहाँ प्रवासी यात्री भी आते रहते थे। एक दिन मारिश घूमता-फिरता वहां आ पहुंचा। मारिश ने सागल में 'मधुपर्व' के दिन दिव्या का मराली-नृत्य देखकर कहा था, "भद्रे! तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण-शक्ति का निखार मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।" और तब रत्नप्रभा ने अंशुमाला का मारिश से परिचय कराया तो मारिश के होठ हिल पड़े—"कुमारी दिव्या!"

मारिश ने दिव्या के प्रति समवेदना व्यक्त की और आगे चलकर प्रणय-निवेदन भी किया। पर, दिव्या इसके लिये प्रस्तुत नहीं हुई। उसने कहा, "प्रश्रय के मूल्य जीवन की सार्थकता नहीं चाहती। जीवन की विफलता में भी मुझे वेश्या की आत्म निर्भरता स्वीकार है।" मारिश निराश होकर चला गया।

इधर निष्कासन की अवधि समाप्त कर रुद्रधीर सागल लौट रहा था। अंशुमाला की ख्याति से प्रभावित होकर एक दिन वह भी रत्नप्रभा के संगीत समाज में उपस्थित हुआ। रुद्रधीर, पृथुसेन का प्रतिद्वन्द्वी होते हुए भी, दिव्या के प्रति उदार था और उसे पाना चाहता था। रत्नप्रभा के यहाँ अंशुमाला के रूप में दिव्या को देखकर रुद्रधीर भी स्तंभित हुआ। पर दिव्या के प्रति उसका आकर्षण कम नहीं हुआ। उसने भी प्रणय-निवेदन किया, पर, वीतराग हृदय से दिव्या ने रुद्रधीर के प्रणय-निवेदन

को भी अस्वीकार कर दिया। रुद्रधीर सागल लौट गया।

सागल पहुंचकर रुद्रधीर ने ब्राह्मण सामंतों से गुप्त मंत्रणा करके एक षडयंत्र रचा। शरद-पूर्णिमा के दिन मल्लिका के यहाँ एक उत्सव हुआ और जब सब यवन मदिरा में बेसुध हो रहे थे मार डाले गए। पृथुसेन ने बौद्ध-भिक्षु बनकर बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाए। इस षडयंत्र के सफल हो जाने से सागल पर से श्रेष्ठिकुल का प्रभुत्व समाप्त हो गया।

रुद्रधीर उत्तराधिकारी बना। इधर मल्लिका अपनी उत्तराधिकारिणी की खोज में मथुरा गई और वहाँ अपनी भूतपूर्व शिष्या रत्नप्रभा के यहां ठहरी। वहाँ दिव्या को पाकर वह बड़ी प्रसन्न हुई और भेंट-स्वरूप दिव्या को रत्नप्रभा से मांग सागल लौट आई। पर, सागल में कलाभिषेक के अवसर पर आचार्य भृगु शर्मा के आक्षेप से कि "मद्र में द्विज कन्या वेश्या के आसन पर बैठ जन के लिए भोग्य बन, वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती" —दिव्या वस्त्राभूषणों से विभूषित ही समारोह छोड़कर चल पड़ी और पान्थशाला पहुंची। वहां आचार्य रुद्रधीर, भिक्षु पृथुसेन और चारवाक मारिश ने बारी-बारी से दिव्या से अभ्यर्थना की। रुद्रधीर ने कहा, 'देवी तुम्हारा स्थान नर्तकी वेश्या के आसन पर नहीं। तुम कुल-कन्या हो। तुम्हारा स्थान कुलवधू के आसन पर, कुल माता के आसन पर है। आचार्य रुद्रधीर देवी को आचार्य कुल की महादेवी के आसन पर स्थान देने के प्रयोजन से उपस्थित है। देवी अपना आसन स्वीकार कर आचार्य को कृतार्थ करो।" पर दिव्या इस प्रवंचना से वशीभूत न हो सकी। उसने गभीर स्वर में उत्तर दिया, "आचार्य! कुलवधू का आसन, कुल माता का आसन, कुल महादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है। यह अकिंचन नारी उस आसन के सम्मुख मस्तक झुकाती है। परन्तु आचार्य, कुलमाता और कुल महादेवी निरादृत वेश्या की भांति स्वतंत्र और आत्म-निर्भर नहीं। ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर

और कुल महादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं। वह भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है। आर्य अपने अस्तित्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है। ज्ञानी आर्य, जिसने अपना अस्तित्व त्याग दिया वह क्या पाएगी? आचार्य, दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्म निर्भर रहेगी। स्वत्व हो वह जीवित नहीं रहेगी।" उसी समय पृथुसेन ने आमत्रण दिया, 'आर्ये मैं तथागत का सेवक भिक्षु पृथुसेन समाज से प्रताड़ित नारी को तथागत की शरण में ग्रहण करने को उपस्थित हूँ। .....देवी संसार का कोई दुःख निर्वाण के आनन्द को क्षुब्ध नहीं कर सकता, देवी संसार से पीड़ित, समाज से प्रताड़ित बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में शांति पाते है। देवी, उस अपार करुणा की शरण ग्रहण करो।" कम्पित स्वर में दिव्या ने प्रश्न किया, "भन्ते भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है?" धीर स्वर में भिक्षु ने उत्तर दिया—'भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।" दिव्या बोली— "भन्ते अपने निर्वाण धर्म का पालन करें। नारी का धर्म निर्वाण नहीं 'सृष्टि' है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें।" और फिर मारिश ने पुकारा, "मैं मारिश देवी के सामीप्य के लिए ही मथुरापुरी से सागल आया हूँ।.....मारिश, देवी को राजप्रासाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश, देवी को निर्वाण के चिरंतन सुख का आश्वासन नही दे सकता। वह ससार के सुख-दुख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह संसार के धूलि-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है।..... संतति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।"

भूमि पर बैठी दिव्या ने भित्ति का आश्रय छोड़ दोनों बाहु फैला दिये। उसका स्वर आर्द्र हो गया—"आश्रय दो आर्य।"

( २ )

यह है उपन्यास के कथानक का सार। 'दिव्या' की 'वस्तु' निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि रखती है। स्वय लेखक ने इस उपन्यास को 'बौद्ध-कालीन' उपन्यास माना है। भारतीय इतिहास में 'बौद्ध-काल' जैसी कोई चीज है अथवा नहीं इसका निर्णय हमें नहीं करना; लेकिन 'दिव्या' की कथा उस काल से. निश्चय ही, सबंध रखती है जिस काल पर बौद्ध-सस्कृति अथवा तथागत के विचारों का प्रभाव रहा है; भले ही समाज के अधिकांश भाग ने और तत्कालीन राजतत्र अथवा गणतंत्र ने उन मान्यताओं को स्वीकृत न किया हो। यदि मात्र इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तक सीमित न रह कर हम 'दिव्या के निश्चित काल को आधार मानकर प्रस्तुत उपन्यास की परख करते हैं तो यह उपन्यास अनेक ऐतिहासिक असंगतियों से पूर्ण मिलता है। लेखक ने 'प्राक्कथन' में लिखा है, "दिव्या ऐतिहासिक कल्पना-मात्र है।" इसमें संदेह नहीं उपन्यासकार जब ऐतिहासिक उपन्यास लिखता है तब वह कोई इतिहास नही लिखता। वह तो मात्र ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर अपनी कल्पना का भवन निर्मित करता है जिसे ऐतिहासिक कल्पना भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार यशपालजी ने 'दिव्या' के कथानक और पात्रों के सृजन में कल्पना का उन्मुक्त सहयोग लिया है। इसी तथ्य के साथ इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐतिहासिक उपन्यास मात्र कल्पना नहीं होता उसकी कुछ सीमा भी होती है। उपन्यासकार इस सीमा की अवहेलना नहीं कर सकता। यह सीमा पृष्ठभूमि संबंधी है अथवा इसे कल्पना का ऐतिहासिक पहलू भी कह सकते हैं।

'दिव्या' की पृष्ठभूमि सुदूर अतीत की पृष्ठभूमि है। कथानक में

पुष्यमित्र, पतञ्जलि, और मिलिन्द के नाम आए हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'दिव्या' की कथा ईसा पूर्व दूसरी शती से सबंध रखती है। स्वयं लेखक इस काल से अपरिचित है। 'प्राक्कथन' में यशपाल लिखते हैं, "चित्र में त्रुटि रह जाना सम्भव है। उस समय का हमारा इतिहास यथेष्ट प्राप्य नहीं। जो प्राप्य है, उस पर लेखक का अधिकार नही।" 'दिव्या' में देशकाल की दृष्टि मे जो त्रुटियां हैं उनका उल्लेख यहां अप्रासंगिक होगा। जहां तक कथा का संबध है वह कल्पना पर आधरित है किसी ऐतिहासिक घटना पर नहीं; अतः 'दिव्या' की कथानक सम्बन्धी ऐतिहासिकता पर विचार करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

'दिव्या' की वस्तु जिस रूप में भी उपस्थित है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यशपाल तत्कालीन नारी जीवन को अपना उद्देश्य मान-कर चले हैं। 'दिव्या' का जीवन उस युग के नारी जीवन का प्रतीक है। सभवतः इसी कारण उपन्यास का नाम 'दिव्या' रखा गया है। आज भी करोड़ों दिव्याओं की समस्या हमारे सामने है, यद्यपि वर्तमान नारी समस्या का स्वरूप 'दिव्या-युग' जैसा नहीं है; पर दमन और शोषण की प्रक्रिया आज भी अविच्छिन्न है। इस कारण आज के युग में भी 'दिव्या' की सार्थकता हैं। राजनीतिक और सामाजिक सघर्ष का भी, चित्रण, प्रस्तुत उपन्यास में यथेष्ट विस्तार लिए हुए है। यह संघर्ष वर्ग-परक है। बौद्ध और ब्राह्मण संघर्ष न बताकर लेखक ने दास वर्ग और अभिजात-वर्ग के संघर्ष को चित्रित किया है। दास-वर्ग की भावना का प्रतीक पृथुसेन है और अभिजात-वर्ग का प्रतिनिधि रुद्रधीर है; जिसे अपने ब्राह्मणत्व का भी अहंकार है। चूँकि पृथुसेन श्रेष्ठि-पुत्र है इस कारण वह दास-वर्ग का सच्चा प्रतिनिधि नही माना जा सकता। उसका आक्रोश भावना पर आधारित है। आर्थिक दृष्टि से वह सम्पन्न है। अन्य दासों से उसकी कोई तुलना नहीं; क्योंकि स्वयं उसका पिता दासों का व्यापारी रहा है। पर, वंश-परम्परा के कारण ही उसे अपमानित होना पडा और इस प्रकार

उसके संघर्ष की मूल भावना वर्ग-परक ठहरती है। दास वर्ग का प्रतिनिधि न होने और दास-वर्ग का कोई सहयोग न पाने के कारण ही उसे सफलता नहीं मिलती। प्रारम्भ में अपने साहस शौर्य और पिता की कूटनीति के कारण वह अपने प्रतिद्वन्द्वी रुद्रधीर को पछाड़ अवश्य देता है, पर अंत में ब्राह्मणत्व की पुनः प्रतिष्ठा हो जाती है। इसका कारण दासों में वर्ग-चेतना का अभाव है। उपन्यास में यत्र तत्र जो दासों का चित्रण मिलता है वह इस वर्ग के किसी सामूहिक—संघर्ष की भावना को प्रकट नहीं करता।

( ३ )

'दिव्या' का वस्तु-विन्यास सुगठित है। तेरह अध्यायों में सम्पूर्ण कथा ग्रथित की गई है। प्रारम्भिक अध्यायों से विदित होता है कि लेखक दिव्या और पृथुसेन की कहानी कहना चाहता है, पर आगे चलकर कथानक अप्रत्याशित मोड ले लेता है और उसकी कहानी दिव्या की कहानी बन जाती है।

उपन्यास की कथा के विकास में औत्सुक्य के लिए बराबर स्थान है। इसके अतिरिक्त 'दिव्या' के वस्तु—विन्यास की सबसे बडी विशेषता उसकी नाटकीयता है। यशपाल ने घटनाओं को ही नही पात्रों के मनोभावों को भी बड़े सुन्दर नाटकीय ढंगसे व्यक्त किया है। इससे कथानक में आकर्षण आ गया है। घटनाएँ एक चल-चित्र के समान पाठक के सामने आती हैं और उसे सहज ही अभिभूत कर लेती हैं। कथा का विकास स्वाभाविकता लिए हुए है।

'दिव्या' के वस्तु-विन्यास में यशपाल की औपन्यासिक-कला का प्रौढ़ स्वरूप भी दृष्टव्य है। उन्होंने अपने विचारों को बड़े कलात्मक ढग से जगह-जगह व्यक्त किया है। मारिश लेखक के विचारों का वाहक है। वह उपयुक्त स्थल पर बड़े सशक्त व्यक्तित्व के साथ अपने सिद्धान्त व्यक्त

करता है, पर ये सिद्धान्त कथा के विकास में रुकावट उत्पन्न नहीं करते वरन् उसे और निखार देते हैं। अपने अन्य उपन्यासों की तरह यशपाल ने सिद्धान्त-चर्चा 'दिव्या'में नहीं की है। वस्तु संयोजना की दृष्टि से दिव्या एक सफल उपन्यास है यद्यपि उसकी कथा से संबंधित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अनेक दोष विद्यमान है।

## पात्र और चरित्र-चित्रण

'दिव्या' ऐतिहातिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है।

'प्राक्कथन' में लिखित उपन्यासकार यशपाल की उपर्युक्त मान्यता की आलोचना करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार और समीक्षक श्री भगवत-शरण उपाध्याय लिखते हैं, 'व्यक्तित्व तो इस उपन्यास में है ही नहीं। व्यक्ति बहुत हैं पर उनकी आकृतियाँ अत्यन्त अस्पष्ट हैं।.....'दिव्या' पढ़ लेने पर शायद दिव्या का ही नाम याद रह सके। चरित्र चित्रण तो इस उपन्यास में कहीं देखने को नहीं मिलता। व्यक्ति समाज में एक दूसरे से इस प्रकार निःशब्द निर्जीव से टकराते हैं जैसे नाबदान के कीड़े। व्यक्तियों के स्थान पर जैसे उनकी छायाएँ घूमती टकराती हैं।"

श्री भगवतशरण उपाध्यायजी के साथ ही लब्ध-प्रतिष्ठ समीक्षक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के विचार भी द्रष्टव्य हैं। द्विवेदीजी लिखते हैं, "इस उपन्यास के सभी पात्र-पात्रियों का चरित्र-चित्रण बहुत स्वाभाविक है। ऐसा लगता है कि हम उन्हें उपन्यास में ही नहीं, उस युग के समाज में पहुंचकर प्रत्यक्ष देख रहे हैं।"

हम उपर्युक्त दोनों समीक्षकों की स्थापनाओं से मतभेद रखते हैं। माना कि उपन्यास में आवश्यकता से अधिक व्यक्तियों का समावेश किया

गया है; पर जहाँ तक उनको उपन्यास में पात्रता मिलने का सम्बन्ध है वे अधिक नहीं हैं। जिन व्यक्तियों की आकृतियां अत्यन्त अस्पष्ट हैं उनकी संख्या लगभग सौ ठहरती है। इस प्रकार एक बहुत बड़ी सख्या में व्यक्ति प्रस्तुत उपन्यास में आते और अपना काम करके चले जाते हैं, मात्र दो-सौ-पाँच पृष्ठों के उपन्यास में इतने व्यक्तियों का समावेश दोष माना जा सकता है, पर चूंकि 'दिव्या' की घटनाएँ समाज के विस्तृत क्षेत्र में घटती हैं इसलिए उसमें अनेक व्यक्तियों का दीखना स्वाभाविक है। खुले मैदान में खेले जाने वाले नाटकों की तरह इसमें भी व्यक्तियों का जमघट है; पर यह जमघट भी सोद्देश्य है और उपन्यास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति के चित्र को स्पष्ट करता है, भले ही किसी वर्ग विशेष को प्रमुखता न दी गई हो। तत्कालीन समाज की झाँकी हमें उसमें अवश्य दिख जाती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति का न तो चरित्र-चित्रण करने की आवश्यकता थी और न प्रत्येक व्यक्ति की आकृतियों को स्पष्ट करने की—उनमें गहरा रग भरने की। अतः उन तमाम व्यक्तियों की, जो प्रस्तुत उपन्यास में, दिखाई देते है, सार्थकता सिद्ध है।

ऐसे व्यक्ति जिनको उपन्यास में पात्रता मिली है एवं जिनका चरित्र-चित्रण किया गया है; निम्न लिखित है:—

नारी-पात्र— दिव्या, मल्लिका, रत्नप्रभा और सीरो।
पुरुष-पात्र—मारिश, रुद्रधीर, पृथुसेन और प्रेस्थ।

## दिव्या

दिव्या उपन्यास की नायिका है। सर्व प्रथम वह 'मधुपर्व' के अवसर पर नृत्य की मुद्रा में दिखाई देती है— शुभ्र वायवीय, श्वेत उत्तरीयों में मराली का प्रतिरूप। उसका नृत्य 'मराली का आत्म-समर्पण' कला की

दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया; जिसके फलस्वरूप उसे 'सरस्वती पुत्री' का सम्मान प्राप्त हुआ। यह कला दिव्या ने कला की अधिष्ठातृ राज-नर्तकी देवी मल्लिका से सीखी।

दिव्या द्विज-कन्या है। दुर्भाग्य से उसके पितामह और पिता-माता किसी दैवी प्रकोप से व्याधि द्वारा अकाल में काल कवलित हो गये। उसका पालन-पोषण प्रपितामह सागल के धर्मस्थ देवशर्मा ने किया। उदार हृदय देवशर्मा का प्रासाद विद्या और संस्कृति का केन्द्र था अतः दिव्या ज्ञान के प्रसंग में भी अबोध न थी। शब्दों की अपेक्षा ज्ञान को उसने भावना में पाया था।

वयोवृद्ध धर्मस्थ के स्वर्गीय ज्येष्ठ पुत्र के, एक मात्र पुत्र की, एक मात्र कन्या होने के कारण दिव्या सभी की दुलारी थी; विशेष आदर की पात्र थी।

कला-साधिका दिव्या जब श्रेष्ठि प्रेस्थ के पुत्र पृथुसेन के सम्पर्क में आती है तो उसके साहस और शौर्य से प्रभावित हो उससे प्रेम करने लगती है। 'उसका अपना मन पृथुसेन से कुछ कहना चाहता था। क्या? सो वह स्वयं भी ठीक न जानती थी, ऐसा ही कुछ, सहानुभूति और सांत्वना के रूप में। पृथुसेन कुछ भटका सा आश्रय की खोज में खिन्न-सा जान पड़ता था। स्वयं भी वह कभी उसी प्रकार अनुभव करती। तब भरे-पूरे प्रासाद में भी सूनापन लगता।" और दिव्या की अन्यमनस्कता किसी से छिपी न रह सकी। दिव्या का प्रथम प्रेम बड़ा पवित्र और स्वर्गीय है। प्रेम के क्षेत्र में जाति-पाँति का बंधन नहीं होता। दास-वंश के युवक पृथुसेन से ब्राह्मण-कुल की कन्या का प्रेम तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देता है।

प्रेम का भाव ऊपर से थोपा नहीं जा सकता। आचार्य प्रवर्धन के

पुत्र रुद्रधीर की अभ्यर्थना करने का महादेवी का आदेश दिव्या को, दासी धाता की पुत्री छाया के द्वारा, इसीलिए दिया जाता है कि रुद्रधीर कुमारी दिव्या के प्रति अनुरक्त हैं। रुद्रधीर का विवाह दो वर्ष पूर्व हो चुका था। दिव्या को रुद्रधीर की द्वितीय पत्नी बनने की कल्पना रुचिकर न हुई। मधुपर्व के अवसर पर, शिविका में कंधा देने के प्रसंग पर, रुद्रधीर का खड्ग खींच कर पृथुसेन को रोकने की घटना ने उसने हृदय में रुद्रधीर के प्रति भय और विरक्ति का भाव उत्पन्न कर दिया। वह सामंती प्रेम-व्यवस्था को स्वीकार न कर अपने हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों के वशीभूत हो पृथुसेन के निकट से निकटतर होती जाती है। उससे मिलने को व्याकुल रहती है और एक संध्या को देवी मल्लिका के दर्शन के बहाने पृथुसेन से मिलने मल्लिका के प्रासाद में पहुँचती है। वहाँ पृथुसेन को देख 'दिव्या ने हृदय में अन्याय की वेदना अनुभव की।' उसके पृथुसेन के प्रति आकर्षक का एक कारण यह भी है। अन्याय की वेदना अनुभव करने पर वह अपनी संवेदना प्रकट करती है और पृथुसेन के कहने पर, "भद्रे, शीतल वायु के लिए समीप के कुंज में ताल के शिलातट पर विश्राम करें।" निरुत्तर हो सिर झुकाये चल पड़ती है।

आगे पृथुसेन का 'भद्रे' शब्द 'प्रिय' में बदल जाता है और एक दिन दिव्या भी आत्म-समर्पण कर देती है। दिव्या का यह आत्म-समर्पण उसके भावी जीवन में अभिशाप सिद्ध हुआ और उसके संकट-ग्रस्त खण्डित जीवन का कारण बना। पृथुसेन का गर्भ लेकर उसे बीहड़, अनजान और घिनौने प्रदेशों में भटकना पड़ा।

पर, आत्म-समर्पण की दुर्बलता दिव्या के प्रेम के महत्व को कम नहीं कर देती। प्रेम में यह दुर्बलता स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त प्रेमिका के रूप में दिव्या का आदर्श कहीं गिरा नहीं है। पृथुसेन के प्रति अपने परिवार के निरादर भाव से उसका हृदय जल उठता था। वह अपने प्रेम

पर दृढ़ है और निर्भीकता से कहती है, "तात और सम्पूर्ण प्रासाद जान ले, आर्य पृथुसेन के अतिरिक्त मैं किसी से विवाह न करूँगी। आर्य पृथुसेन ने ही मेरे पाणि के लिये तात के सम्मुख प्रार्थना नहीं की। मैं स्वयं यही चाहती हूँ। अन्य कुछ नहीं चाहती; यह सब जान ले। मेरे लिये किसी अन्य वर की सम्भावना नहीं। यह जानने पर ही तात आर्य की प्रार्थना पर उचित ध्यान देंगे। विवाह भी विलंब से नहीं, तुरन्त...आर्य के युद्ध पर जाने से पूर्व ही वरना चाहती हूँ।' छाया के सम्मुख उसने सब कुछ निसंकोच कह डाला और सोचती रही, कि छाया से अम्मा सुनेगी और फिर सब सुनेंगे .....हाँ सब सुन लें।" दिव्या का यह निश्चय उसके प्रेम को मानवी होने पर भी दिव्य बना देता है।

युद्ध से लौटे हुए विजयी किन्तु घायल पृथुसेन से दिव्या मिलने जाती है; पर सीरो के कड़े नियत्रण के कारण वह सोते हुए पृथुसेन को जगा नहीं पाती और उसे निराश वापस आना पड़ता है। सीरो का व्यवहार उसे 'अपनी स्थिति और दुर्भाग्य के प्रति लांछना और उपहास के रूप में असह्य दम्भ और अहकार जान पड़ा।' इसके अतिरिक्त छाया के द्वारा उसे पृथुसेन सीरो सम्बन्धो के वृत्तान्त भी सुनने को मिलते। इन कारणों से दिव्या का पृथुसेन के प्रति शंकालु होना स्वाभाविक था। 'उसके जीवन की सम्पूर्ण महत्वाकांक्षा और माधुर्य कलंक और अपराध बना जा रहा था। वह सोचती है, "क्या आर्य मुझे भूल ही गये? क्या वह प्रणय और विह्वलता सब छल और प्रवचना थी?"

इस अवसर पर रुद्रधीर की भी याद करती है, "और आर्य रुद्रधीर? वह स्वयं उसके अपने ही तात से निर्वासन का दण्ड पाकर दूर चला गया।" रुद्रधीर का इस प्रकार स्मरण स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। लेखक यहाँ दिव्या के चरित्रांकन में मनोवैज्ञानिक भूल कर गया है।

विषम परिस्थिति के होते हुए भी दिव्या आत्महत्या नहीं करती; पलायन नही करती। वह पृथुसेन से मिलने का संकल्प करती है, 'एक बार मैं आर्य से साक्षात्कार करुँगी।' पर, दिव्या की यह दृढ़ता विवशताजन्य है; तभी तो वह यह कहती है, "मैं सीरो के साथ सख्य भाव से सपत्नीत्व स्वीकार करुँगी। ...आर्य के प्रासाद में बीसियों दासियाँ अनेक सेवा कार्य के लिये हैं, क्या मेरे लिए वहाँ स्थान नहीं?" चूंकि दिव्या का प्रेम खंडित हो गया है और वह पृथुसेन के अंश को धारण किए हुए है उसका सपत्नीत्व अथवा दासत्व स्वीकार करना ही एक मात्र उपाय है। शक्तिभर वह इसके लिये प्रयत्न करती है, पर असफल रहती है—पृथुसेन से उसकी भेंट ही नहीं हो पाती।

पर, दिव्या निराश नहीं होती। वह अपने दुर्भाग्य को अकेली वहन करती है। कलंक लेकर धर्मस्थ के यहाँ रहना नहीं चाहती और निश्चय करती है, 'कहीं भी स्थान न पाने पर दासी कर्म कर अपने आपको बिकी कर. उदर के प्राणी की रक्षा करुँगी।' यहाँ से दिव्या के जीवन का घोर संकट-काल प्रारम्भ होता है। वह अपनी जीवन-नौका को देव भरोसे छोड़ देती है। उसका प्रेमिका का रूप अब अभागिन का रूप बन जाता है। माताल वृक की दुष्टता से बचाई जाकर दिव्या जीवन की अँधेरी वीथियों में भटकने के लिये निकल पड़ती है। नारी-जीवन के सम्बन्ध में उसकी मान्यता आजकल के नारी-जीवन के इतिहास की प्रतिध्वनि है। अपनी धात्री से वह कहती है 'किससे भय है?...भय किससे नहीं है? माताल वृक से भय है? पृथुसेन से भय नहीं किया था;...क्या हुआ? वृक से भय किस कारण? नारी है क्या? माताल वृक ठीक ही कहता है अम्मा! धीर रुद्रधीर, कोमल पृथुसेन, अभद्र मारिश और माताल वृक नारी के लिए सब समान हैं। जो भोग्य बनने के लिये उत्पन्न हुई है, उसके लिए अन्यत्र शरण कहाँ? उसे सब भोगेंगे ही। भय किसी से नहीं?

क्या तात से भय नहीं ? महापितृत्या से भय नहीं ? वे मुझे आर्य रुद्रधीर को देना चाहते थे। मैंने स्वेच्छा से पृथुसेन को अर्पण किया। उसका फल यह है।"

निदान दिव्या भटकती रही और प्रतूल नामक दास-व्यापारी के चंगुल में फँस गई। वह सब कुछ सहन करने के लिए प्रस्तुत है, पर अपराधिनी और कलंकिनी बनकर समाज में रहना नहीं चाहती। उसका मातृत्व अभिशप्त है। इसीलिए वह प्रतूल के शतुद्री नदी पार करने के अवसर पर बचने का मार्ग पाकर भी बचना नहीं चाहती, "इस समय विरोध का एक चीत्कार उसे दासी-व्यवसायी के पाश से, दासत्व; से मुक्त कर सकता है। परन्तु फिर वह कहाँ जायगी ? उसके लिए स्वतन्त्रता कहां है ? उसके लिए शरण और स्थान कहाँ है ? उसकी सम्भावित संतान के लिए शरण और स्थान कहाँ है ? जिसके लिए जीवित रहने का अवसर नहीं, उसके लिये स्वतंत्रता कहाँ ?" और वह मथुरापुरी के दास-व्यापारी भूधर को बेच दी गई। जहां उसके एक पुत्र हुआ—शाकुल। भूधर के यहाँ से याज्ञिक पुरोहित चक्रधर उसे पचास स्वर्ण मुद्रा में संतान-सहित क्रय कर लेता है। सद्यः प्रसूतावती पत्नी के अस्वस्थ हो जाने और वैद्य द्वारा रोगी माता का स्तन नवजात शिशु को देने का निषेध करने के कारण चक्रधर दिव्या (दारा) को अपने पुत्र को स्तन-पान का कार्य सौंपता है। चक्रधर के यहाँ दिव्या को असह्य यंत्रणा का सामना करना पड़ता है। उसकी दशा पशु से भी बदतर हो जाती है। अपने पुत्र की रक्षा और पुरोहित की निर्दयता से मुक्त होने के लिए वह भागकर बौद्ध-स्थविर की शरण में पहुँचती है। वहाँ भी स्थान न पा यमुना-तट पर श्रेष्ठि पद्मनाभ के दान का समाचार सुन, जाने को होती है कि चक्रधर उसका पीछा करता है। यहां दिव्या आत्म-हत्या करती है— अपने पुत्र सहित यमुना में कूद पड़ती है; यद्यपि वह रत्नप्रभा के द्वारा बचा ली जाती है।

बौद्ध स्थविर के ये वचन—'वेश्या स्वतत्र नारी है देवी !' दिव्या के मानसिक जगत में हलचल उत्पन्न कर देते है। वह इतनी रुग्ण हो गई है कि मारिश भी उसे पहचान नहीं पाता। मारिश का यह कथन, "हतभागी तू वेश्या बनने योग्य भी नहीं।...तेरी आकर्षक शोभा लुट चुकी है, केवल दुर्भाग्य शेष रह गया है। चूसी जाकर जीवन के अयोग्य होकर जीवित रहने का मोह छोड़ दे ?" दिव्या की दयनीय स्थिति को ही प्रकट नहीं करता; उसकी जीवन के प्रति आस्था और संघर्ष के स्वरूप को भी व्यक्त करता है। पुत्र खोकर और मरते-मरते बचकर भी वह जीवन को वरण करती है और दासत्व से मुक्त हो वेश्या बनती है; क्योंकि वेश्या स्वतंत्र नारी है।

रत्नप्रभा ने दिव्या (दारा) का नाम 'अंशुमाला' रखा और उसे अपने यहां स्थान दिया। 'नाम बदलने के साथ पुनः दिव्या का संसार बदल गया। 'उसका सौन्दर्य पुनः लौट आया। दिव्या कलाविद् है, जिसके कारण वह रत्नप्रभा के स्नेह और आदर की पात्री सहज ही बन जाती है। और जब उसे यह ज्ञात होता है कि वह उसकी गुरु मल्लिका कीशिष्या है तो 'वह गर्व, सन्तोष और स्नेह से उसे अंशुमाला न पुकार कर 'अशुप्रभा पुकारने लगी।'

दिव्या को उपन्यासकार ने प्रत्येक परिस्थिति में पवित्र रखा है। उसका शारीरिक और मानसिक पतन नहीं होता। 'उसकी मुस्कान और लास्य केवल कला का कर्तव्य मात्र था। समाज से पृथक् होते ही वह निस्सर्ग और तटस्थ हो जाती; जैसे जल से बाहर निकल आने पर हंस-शावक अपने पर झाड़ कर जल की बूँद से रहित हो जाता है।' समाज में अपवाद फैलने लगा— 'अंशुमाला वेश्या नहीं; केवल नृत्य की काष्ठ तुत्तालिका है। प्रस्तर के देवता के सम्मुख नृत्य का अनुष्ठान करने योग्य नृत्य का यन्त्र मात्र है। उनका लास्य, स्मित और कटाक्ष केवल कला के अनु-

ष्ठान मात्र है, मनुष्य के संतोष की वस्तु नहीं। उसके अपने जीवन में कुछ नहीं, वह किसी के लिये कुछ नहीं।' वीतराग नर्तकी दिव्या के चरित्र की यह उज्वलता अस्वाभाविक नहीं। दिव्या जीवन की जिन अंधेरी गलियों में से गुजरी है उनको देखते हुए उसमें उक्त प्रकार के तटस्थ भाव का आना आश्चर्य की बात नहीं। 'अंशुमाला के लिये गत जीवन की स्मृति वीभत्स और दारुण थी। भविष्य की कल्पना शून्य। गत जीवन के दुःखों की स्मृति से वह आँसू न बहाती। यदि बहाती तो किस-किस दुःख को लेकर? सुख की आशा और कामना भी वह न करती। सुख है क्या? —उसने सोचा —'सम्पन्न परिवार, अनुरक्त पति, सुन्दर सन्तान? वह सब पाया और नहीं रहा।' पर, तटस्थ रहकर भी दिव्या जीवन के प्रति बिल-कुल विरक्त न थी। जीने की प्रेरणा से ही उसने अजाने पथ पर पाँव रखने में संकोच नहीं किया था। अंशुमाला के रूप में दिव्या ने कितने ही प्रणाय-निवेदन सुने, पर वे सब वह व्यावसायिक शिष्टाचार से उन्हें टालती रही; क्योंकि वे प्रणय निवेदन आकर्षक नर्तकी अंशुमाला के प्रति थे—'दिव्या' के प्रति नहीं। दिव्या की तटस्थता का एक यह भी मनोवैज्ञा-निक कारण है।

रत्नप्रभा के यहाँ दिव्या की चारवाक-पथी मारिश से घनिष्ठता बढ़ती है। मारिश की संवेदना ने उसके जीवन में पुनः लालसा का सन्चार किया। मारिश ने दिव्या को ही स्पर्श किया। अतः वह उसकी अपेक्षा न कर सकी। मारिश के प्रणय-निवेदन ने उसके हृदय में द्वन्द्व उत्पन्न किया। अभद्र मारिश अब 'विज्ञ मारिश' के रूप में उसके सामने नारी के सार्थक अनुराग का प्रार्थी था। पर, दिव्या गत जीवन के अनुभवों से इतनी भयभीत थी कि उसने आश्रय के जाल में फँसना न चाहा। उसने निर्णय किया, 'देवी मल्लिका की भांति कला की आराधना जीवन का लक्ष्य बना-वह अपना जीवन उसके अर्पण करेगी। पराश्रित और भोग्य न होकर वह आत्मा निर्भर बनेगी।' इस प्रकार दिव्या का उदात्त व्यक्तित्व जगह-जगह

हमारे सामने आता है। उसका तर्क निश्चय उसे बहुत ऊँचे स्तर पर ले जाता है। मारिश की सशक्त दलीलों के बावजूद भी वह अपने निर्णय पर अटल रहती है—'प्रश्रय के मूल्य पर जीवन की सार्थकता नहीं चाहती। जीवन की विफलता में भी मुझे वेश्या की आत्मा निर्भरता स्वीकार है।' दिव्या का निश्चय जानकर यद्यपि मारिश मथुरापुरी से प्रस्थान कर जाता है; पर वह दिव्या के सामने जीवन का एक नया और सार्थक दृष्टिकोण छोड़ जाता है जो आगे चलकर दोनों के सम्बन्धों का आधार बनता है।

रत्नप्रभा के ही यहाँ रुद्रधीर भी दिव्या से मिलता है; और अपना प्रणय-निवेदन करता है। पर, दिव्या अविचलित रहती है। मद्र की राजनीति में परिवर्तन होने पर देवी मल्लिका उत्तराधिकारिणी की खोज में अपनी शिष्या रत्नप्रभा के यहाँ पहुँचती है और वहाँ से दिव्या को पुनः सागल ले आती है। पर, दिव्या के दुर्भाग्य की कहानी समाप्त नहीं होती। वह कला की अधिष्ठात्री बन कर भी नहीं बन पाती। आचार्य भृगु शर्मा के ये शब्द, "मद्र में द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठकर जन के लिये भोग्य बनकर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती !" दिव्या को पुनः संघर्ष क्षेत्र में धकेल देते हैं। वह नगर के बाहर पान्थशाला में पहुँचती है; जहाँ आचार्य रुद्रधीर, भिक्षु पृथुसेन और लोकायत असाधारण पुरुष मारिश तीनों उससे बारी-बारी से पुनः प्रणय-निवेदन करते हैं। इस अवसर पर दिव्या पराजित हो जाती है और अपने पूर्व निश्चय के प्रतिकूल मारिश के सामने आश्रय के लिये बाहु फैला देती है। मारिश के दर्शन के अनुसार दिव्या की यह पराजय नहीं उसके जीवन की सार्थकता है। मारिश आश्रय का आदान प्रदान चाहता है; सम्भवतः इसी कारण वह दिव्या को पा सका।

इस प्रकार दिव्या का व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक और सशक्त है।

श्री भगवतशरण उपाध्याय ने दिव्या को निर्जीव बताया है। इसमें संदेह नहीं दिव्या तत्कालीन कुरीतियों को ठोकर मारकर चूर-चूर नहीं कर पाती; पर जिन स्थितियों में वह सतत संघर्ष करती है वह निर्बलता की कोटि में नही गिना जा सकता। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में 'सभी पात्र-पात्रियों के ऊपर दिव्या का व्यक्तित्व अनुरागिनी उषा और विषादिनी संध्या की तरह शोभायमान है। उसी की आत्मा अमृतलोक-वासिनी जान पड़ती है, शेष प्राणी तो इस मर्त्यलोक के सांसारिक जीव हैं। दैहिक प्रवृत्तियों से परिचालित होकर भी दिव्या की चेतना का पतन नही हुआ है। कन्या, माता, वेश्या, सर्वहारा, यह सब कुछ होकर इनमें से वह कोई नहीं है, वह तो चिरन्तन सरला सुशीला बालिका है। कौमार्य्य की उस प्रफुल्ल कमलिनी को पारिस्थितियों ने करुण निरीह बना दिया. फिर भी वह वही दिव्या है। उसकी सृष्टि कर लेखक ने अपनी कलात्मक सुरुचि को साकार किया है। दिव्या के साथ लेखक की सहानुभूति ही नही, ममता है, आत्मीयता है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि अपनी इस मानसी सृष्टि को अपना सकने में लेखक भी पृथुसेन की तरह ही असमर्थ हो गया। उसे चारवाक-पथी मारिश की शरण में चली जाने दिया।" मारिश के आश्रय की बात लेखक की असमर्थता की सूचक प्रतीत नही होती; वरन् इसके विपरीत लेखक के मन्तव्य को पूरा ही करती है। स्वयं शांतिप्रियजी आगे के वाक्य में इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि लेखक ने उस युग के अनुरूप प्रगतिशील विचारों का प्रतिनिधि मारिश को बनाया है; ऐसी सूरत में असमर्थता का प्रश्न ही नहीं आता। असमर्थता की झलक यदि मिलती भी है तो वह अपना दूसरा पहलू रखती है। स्वयं लेखक इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि दिव्या चारवाक मारिश के दृष्टिकोण की अनुगामिनी बने पर उसने दिव्या के व्यक्तित्व को इतने स्वतंत्र रूप से विकसित किया है कि वह चारवाक मारिश के दृष्टिकोण के प्रति उसकी सहमति सहज संभव नहीं दिखा सका। दिव्या के स्वतत्र व्यक्तित्व के कारण ही

मारिश का प्रथम प्रणय-निवेदन लेखक स्वीकृत नहीं करा पाता; मानो वह उसके बस की बात नहीं है। यदि वह उस समय ऐसा करता तो दिव्या का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाता और वह लेखक की कठ-पुतली मात्र बन कर रह जाती। चूँकि लेखक सजग है और यह चाहता है कि दिव्या मारिश के दर्शन से प्रभावित हो और उसे अपनाये इसी-लिए वह अंत में उसे मारिश की शरण में जाने देता है। एक बार जिस मारिश को दिव्या ने नही अपनाया वही अंत में उसके सामने आश्रय के लिए बाहु फैला देती है। इसमें अस्वाभाविकता न होकर; दिव्या के मानसिक लोक पर मारिश के सिद्धांतों का प्रभाव है--जो संभवतः लेखक का भी उद्देश्य रहा है।

## पृथुसेन

पृथुसेन प्रेस्थ--का पुत्र है। प्रेस्थ किसी समय दास था। 'आज वह अनेक दासों का स्वामी, सागल का प्रमुख श्रेष्ठि और गणपति का प्रमुख मंत्रणादाता है।' अतः पृथुसेन भी दासों की भाँति हाथ में चँवर लेकर नही, खड्ग लेकर चलता है। प्रेस्थ ने अपने पुत्र पृथुसेन का पालन अभिजात-वश के कुमारों की भाँति किया है। 'शैशव में ही सम्मान पाने के कारण पृथुसेन में आत्म-गौरव का भाव पिता से अधिक और विनय का चातुर्य कम था। उसकी प्रवृत्ति मार्ग रोकने वाली अर्गला के नीचे से सिर झुकाकर निकल जाने की अपेक्षा अडचन से भिड़ जाने की ओर थी।'

'यवन सामंत के समान गौर वर्ण परन्तु द्विज के समान कृष्ण नेत्र, ऊँचा और बलिष्ठ शरीर'—यह है पृथुसेन का व्यक्तित्व। तक्षशिला और मगध से शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा पूर्ण कर आये युवकों के शस्त्रकौशल की प्रतियोगिता के कार्यक्रम में भाग लेते हुए अद्वितीय

हस्त-लाघव और अपूर्व खड्ग-कौशल के कारण महासेनापति ने उसे सागल का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी घोषित किया।

पृथुसेन अन्याय सहन नहीं कर पाता। प्रतियोगिता के निर्णय के समय मात्र उसका स्पष्टीकरण और निवेदन ही इसका प्रमाण नहीं, सरस्वती-पुत्री दिव्या की शिविका में कंधा देने से अवसर पर भी उसका यह स्वरूप द्रष्टव्य है। जब रुद्रधीर उसे ललकारता है, 'दास-पुत्र को अभिजात वंश के युवकों के साथ शिविका में कंधा देने का अधिकार नहीं।'—तो वह तुरन्त खड्ग खींच, पैंतरे से खड़े हो, उत्तर देता है, 'मेरे अधिकार का निश्चय मेरा खड्ग करेगा।'

पृथुसेन के स्वभाव में एक प्रकार की हीनता-ग्रंथि मिलती है। दास-वंश में जन्म लेने के कारण जब-जब उसका अपमान होता है अथवा इसी कारण जब-जब उसकी शक्ति और योग्यता की उपेक्षा होती है वह उद्दंड हो उठता है। शिविका वाली घटना से वह क्षुब्ध और विह्वल हो, सोचता है, "जन्म का अपराध? यदि वह अपराध है, तो उसका मार्जन किस प्रकार संभव है? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति जन्म को परिवर्तित नहीं कर सकती। कोई शक्ति जन्म के अपराध का मार्जन नहीं कर सकती। जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले?...या उससे ले जिसने अपने स्वार्थ के लिए जन्म के असत्य अधिकार की व्यवस्था निर्धारित की है?.. हीन कहे जाने वाले कुल में मेरा जन्म अपराध है? अथवा द्विज-कुल में जन्मे अपदार्थ लोगों का अहंकार?'

वह अपने इस अपमान को मौन सहकर नहीं रह जाता; प्रत्युत सक्रिय हो, न्याय की माँग करता है। उसका यह कथन—'गणपरिषद् से सहायता पाकर जो न्याय मुझे धर्मस्थान से मिलेगा, उसके लिए मैं धर्मस्थान के सम्मुख आभारी न होऊँगा।...वह न्याय नहीं, सबल का

सम्मान मात्र होगा।' उसके दृढ़ संकल्पी, उद्धत, साहसी, और निश्छल व्यक्तित्व को प्रकट करता है। और जब उसका अवसरवादी पिता कहता है, "... समर्थ लोगों का विश्वास प्राप्त करो। वृद्ध धर्मस्थ और गणिपति की सेवा में जाओ। सामन्त ओक्सिस और सामन्त इन्द्रसेन से आत्मीयता स्थापित करो।" तो वह अपने स्वभाव-विरुद्ध, पिता के आदेश से भी, विश्वास और कृपा की भिक्षा माँगने के लिए उत्साहित नहीं होता है। ये सभी घटनाएँ पृथुसेन के सबल चरित्र की द्योतक हैं। इसी कारण प्रारम्भ से ही पाठकों की सहानुभूति उसकी ओर हो जाती है। यद्यपि पृथुसेन का यह उदात्त चरित्र अन्त तक नहीं बना रहता—वह दुर्बल बन पिता की महत्वाकांक्षी भावनाओं के सामने झुक जाता है, तथापि पाठकों की उसके प्रति सहानुभूति का लोप नहीं होता। लेखक ने पृथुसेन के चरित्र को जिस प्रकार प्रारम्भ में चित्रित किया—उठाया उस प्रकार अन्त तक निभाया नहीं। उसका स्वतन्त्र और सबल व्यक्तित्व उपन्यासकार की, इच्छानुसार ढल कर निर्जीव बन जाता है। प्रारम्भ में पृथुसेन के प्रति जिस निष्ठा का परिचय लेखक ने दिया है वह आगे नहीं मिलता। पृथुसेन जो उपन्यास के पूर्वार्द्ध का नायक है; अन्त मे गौण पात्र हो जाता है और मारिश उसका स्थान ले लेता है। कथा के विकास ने पृथुसेन के निखरते हुए चरित्र को म्लान कर दिया है। इसका प्रमुख कारण यही है कि लेखक दिव्या की आकर्षक और समस्यामूलक कहानी कहना और मारिश के माध्यम से अपने सिद्धांतों की अभिव्यक्ति करना चाहता है। आगे उसकी समस्त कला-शक्ति इसी दिशा में लगी दिखाई देती है।

पृथुसेन के व्यक्तित्व के तीन रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं—प्रेमी का रूप, सामरिक तथा राजनीतिक रूप और बौद्ध भिक्षु का रूप। प्रेम के क्षेत्र में वह नितांत असफल रहा है। दिव्याके प्रति आकर्षित होकर व उसको पाकर भी वह उससे विवाह करने में सफल न हो सका। दिव्या के प्रति उसका प्रेम स्वाभाविक रूप से विकसित होता है। "उसके दुख से दुखी दिव्या के सामीप्य से

उसे सांत्वना मिलती। जीवन का उसे एक ही मार्ग दिखाई देता—संसार में उसे मनुष्य जान जिसने अपनाया, अनेक बाधाओं की उपेक्षा कर अपना हृदय अर्पित किया, वही दिव्या उसका एक मात्र अवलम्ब थी; अपनी थी। उसी दिव्या को ले वह किसी अज्ञात दिशा और देश में जा अपने लिए नया स्थान, नया समाज, नया संसार बसा ले। ऐसे देश में जहाँ वह अपने जन्म के लिए दंडित न हो? जहाँ वह अज्ञात कर्मों के फल से विवश न हो! जहाँ उसे कर्म करने का स्वतंत्र अवसर हो! जहाँ उसका पुरुषार्थ और प्रतिभा अकुलीन पिता की संतान होने के कारण व्यर्थ न हो जाय!" दिव्या के प्रति पृथुसेन का यह आकर्षण बढ़ते-बढ़ते दिव्या के गर्भ का कारण बनता है। नैतिक दृष्टि से पृथुसेन का प्रेम आदर्श प्रेम नहीं माना जा सकता। भोली बालिका दिव्या से, विवाह के पूर्व ही, इस प्रकार के सम्बन्ध उचित नहीं ठहराये जा सकते। पर यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो पृथुसेन और दिव्या के दैहिक सम्बन्ध स्वाभाविक ही कहे जाएगे। युद्ध से लौटकर आने पर भी पृथुसेन दिव्या को उसी प्रकार चाहता है; यद्यपि घायल होने के कारण वह उससे मिलने नहीं जा पाता और जब एक दिन दिव्या उससे मिलने आती है तो सीरो के कड़े नियत्रण के कारण सोते हुए आहत पृथुसेन को जगा नहीं पाती—उसके जागने की प्रतीक्षा करती है; पर अधिक देर बैठने में विवश होने के कारण वापस चली आती है। जागने पर पृथुसेन चिंता से क्षुब्ध हो उठता है, "वह अनुमान न कर पाया, छः मास की उसकी अनुपस्थिति में क्या हो गया? क्या कुल अभिमान के कारण दिव्या उसके प्रति उदासीन हो गई? अथवा अपने परिवार से त्रस्त हो विरत हो गई? क्या किसी के अधिक प्रबल आकर्षण के सम्मुख वह झुक गई?" इसी स्थल से सीरो और प्रेस्थ पृथुसेन को अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए बाध्य करते हैं—सीरो अपने अनुराग प्रदर्शन से उसे अपना बनाना चाहती है और प्रेस्थ पृथुसेन को एक निर्जीव यंत्र समझ कर अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहता है। इधर दिव्या से उसकी भेंट नहीं हो पाती—वह उसके गर्भ से भी अपरिचित रहता है।

पर, पृथुसेन का शीघ्र पतन नहीं होता। वह अपने पिता से गणपति की पौत्री सीरो की प्रशंसा सुनकर कहता है, 'तात धर्मस्थ की प्रपौत्री से प्रतिज्ञाबध्द होने और उसके प्रति अत्यन्त अनुराग के कारण किसी दूसरी कन्या से विवाह का प्रसंग मन में लाना मेरे लिए संभव नहीं।" यहाँ उसके प्रेम की एकनिष्ठा स्पष्ट और सबल रूप में व्यक्त हुई है। एक स्थल पर और वह अपने पिता से कहता है, "तात, मैं दिव्या से प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, मैं उसे पत्नी रूप से ग्रहण कर चुका हूँ। यह विश्वासघात होगा।"

पर, पृथुसेन अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध नहीं जा पाता। विवश हो, वह सोचता है, सीरो से विवाह करके भी दिव्या को पा सके।' उसे अपनी स्थिति विवश दासियों की भाँति प्रतीत होती। यहाँ पृथुसेन का चरित्र अत्यन्त दुर्बल दिखाई देता है। निदान उसे सीरो से विवाह करना पड़ता है। महापराक्रमी सेनापति की इतनी दयनीय स्थिति!

पृथुसेन का वैवाहिक जीवन शीघ्र ही विषाक्त हो उठता है। वह आत्म-हनन की स्थिति में पहुँच जाता है। सीरो 'सबसे अधिक काम्य भोगों को भोगती और सागल के सबसे अधिक सुन्दर युवा पुरुषों से आदर की आशा करती।' पृथुसेन को सीरो की उच्छृंखलता सहन न हुई। सीरो के प्रति उसका मन घृणा से भर गया। उसके लिए वह केवल हेय शव मात्र थी। और फिर वह दिव्या के उपरांत देवी मल्लिका की शिष्या मादुलिका के प्रति आसक्त होता है। इस प्रकार पृथुसेन प्रेम में और वैवाहिक-जीवन में असफल रहता है। नारी से उसे सुख और संतोष नहीं मिल पाता।

पृथुसेन का सामरिक रूप ही सर्वाधिक सशक्त है। वास्तव में वह एक सफल योद्धा है। केन्द्रस को पराजित करने में उसके साहस और युद्ध-कौशल का परिचय मिलता है। उसका लक्ष्य है, 'जीवन के दो क्षण पूर्णता से जीकर साहस से जीवन समाप्त कर दे।...जीवन भर तिलतिलकर मरने की

कल्पना मैं सहन नहीं कर सकता जीवन की सार्थकता अधिकार और सामर्थ्य में ही है।' प्रायः एक सफल योद्धा एक सफल राजनीतिज्ञ नहीं होता। पृथुसेन में भी कोई राजनीतिक सूझ-बूझ नहीं है। मद्र की राजनीति में उसे जो सफलता मिलती है उसका श्रेय उसके पिता प्रेस्थ को ही है। पर, अंत में रुद्रधीर का षड्यंत्र सफल हो जाने के कारण पृथुसेन राजनीति में भी पराजित हो जाता है और भागकर किसी तरह अपने प्राण बचाता है। उसे वैद्यवर स्थविर चीवुक की सहायता से बौद्ध-विहार में शरण मिलती है। वहाँ वह स्थविर के उपदेशों से प्रभावित हो तथागत के धर्म को अपनाता है।

अतः पृथुसेन के चरित्र में जिस शक्ति और प्रतिभा की प्रतिष्ठा लेखक ने की थी उसके अनुरूप उसका आचरण वह सिद्ध न कर सका। इस दृष्टि से पृथुसेन के चरित्रांकन में यशपाल की कला कमजोर दिखाई देती है।

## मारिश

फल का भोक्ता होने के कारण मारिश प्रस्तुत उपन्यास का नायक माना जा सकता है; यद्यपि नायक के समान वह कोई विधिवत् कार्य सम्पादित नहीं करता। मारिश का महत्व इसलिए भी है कि वह लेखक का वैचारिक प्रतिनिधित्व करता है। उसका असाधारण व्यक्तित्व चित्रित किया गया है। उपन्यास के प्रथम अध्याय 'मधुपर्व' में जन-समूह के मध्य कषाय चीवरधारी भिक्षु के रूप में वह सर्व प्रथम दिखाई देता है। मल्लिका और उसकी शिष्या दिव्या के 'मराली का आत्म-समर्पण-नृत्य' देखने के पश्चात् मारिश की दार्शनिक उक्ति सबको उसकी ओर आकर्षित करती है। "भिक्षु ने ऊर्ध्व बाहु खड़े हो, गम्भीर स्वर में जन को उद्बोधन किया—'बुद्धिमान जन देखें और जानें! माया के बंधन में जीव को इसी प्रकार

सुख की मिथ्यानुभूति का भ्रम होता है ।...भन्ते, दुख की भ्रांति में भी जीवन का शाश्वत-क्रम इसी प्रकार चलता है। वैराग्य भीरु की आत्मप्रवंचना मात्र है। जीवन की प्रवृत्ति, प्रबल और असंदिग्ध सत्य है।' यही नहीं प्रत्येक स्थिति में दार्शनिक मारिश अपनी निजी विशिष्टता के साथ सम्मुख आता है। दिव्या की कला के प्रति उसके इन अर्थगर्भित शब्दों से 'भद्रे, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखार मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति हैं।' दिव्या को तत्काल ही आशंकामय रोमांच नहीं हुआ; वह आगे भी उनका अर्थ, उनकी गूढ़ता और व्यापकता का मनन करती रही। ये शब्द उसे बार-बार स्मरण होते रहे। इस प्रकार मारिश के व्यक्तित्व में दैवी-शक्ति-सी दिखाई देती हैं। जो भी उसके सम्पर्क में आता है; प्रभावित हुए बिना नही रहता।

मारिश श्रेष्ठि उपासक पुष्यकांत का पुत्र हैं। वह युवक है और सागल का सर्वश्रेष्ठ मूर्तिकार है। वह नास्तिकत और अनैतिकता के प्रतिपादन का अपवाद पाने वाला व्यक्ति है। ब्रह्मलोक और निर्वाण दोनों की ही अवज्ञा करने वाला, सागल के धर्मज्ञविप्र समाज द्वारा लछित और तथागत के अभिधर्म द्वारा अभिशप्त, लोकायत का समर्थक, केवल स्थूल प्रत्यक्ष इहलोक को सत्य और जन्मान्तर में कर्मफल को असत्य बताने वाला वह चारवाक का अनुयायी है।

मारिश अपने सिद्धान्तों का पक्का है। जिस समय वह सागल में मिलिन्द बिहार के सिंहद्वार के तोरण पर भगवान तथागत के जीवन चरित्र अंकित कर रहा था—तथागत के पूर्व अवतारों को मिथ्या विश्वास बता, संघस्थविर को आज्ञा से जातक कथा उत्कीर्ण करना अस्वीकार कर देता है। संघ स्थविर ने भोग-लिप्सा को सुख की मिथ्या क्रांति के रूप में दिखाने की आज्ञा दी। मारिश ने वह भी स्वीकार न किया। संघस्थविर द्वारा धर्मस्थान में उपस्थित किये गये प्रतिज्ञा भंग के

अभियोग के न्याय में धर्मस्थ ने मारिश को अर्थ-दंड दिया'—परन्तु मारिश अपने सिध्दांन्तों पर अटल रहा।

तत्कालीन जन-समाज के अंध-विश्वासों और मिथ्या धारणाओं के विरोध में बोलते समय दार्शनिक मारिश की मेधा-शक्ति बड़ी तीव्र हो उठती है। परलोक के संबंध में मारिश ने जगह-जगह तर्क किया है। सागल के सामन्त-वर्ग से पीड़ित एक युवक जब कहता है "पुरोहित कहता है, जो स्वामी, सामन्त की आज्ञा से विमुख है, वह परलोक से हीन हो श्वान का जन्म पाकर दण्ड स्वरूप स्वामी की सेवा करेगा। इस जन्म में दुख पाया, परलोक भी बिगाड़ूँ ?' तो मारिश का भौतिक-वादी दार्शनिक उसके विश्वास पर प्रहार करता हुआ कहता है, "मूर्ख, तूने और तेरे स्वामी ने परलोक देखा है ? यह विश्वास ही तेरी दासता है। तू स्वामी के भोग के अधिकार को स्वीकार करता है, यही तेरी दासता का बधन है।" जन-साधारण में वर्ग चेतना, स्वतंत्रता और स्वाभिमान की भावनाएँ उद्बुद्ध करता हुआ वह कहता है, "तू स्वतंत्र 'कर्त्ता' है। स्वतंत्रता अनुभव करना ही जीवन है।.. जीवन के लिए युद्ध कर।" अथवा "अपने मनुष्यत्व और अधिकार के लिए मरो। जो बिना विरोध किये दूसरे के उपयोग में आता है, वह जड़ और निर्जीव है, पशु से भी हीन। तुम सामन्तों के राज्य में आधे मनुष्य हो, पूर्ण मनुष्य बनने का प्रयत्न करो। निराशा में शैथिल्य से पशुत्व मत स्वीकार करो।" इसी प्रकार रत्नप्रभा से भी वह एक स्थल पर कहता है, "जिस स्थूल, प्रत्यक्ष जगत और शरीर का अनुभव सम्पूर्ण जन करता है उसे भ्रम मानना और जिस ब्रह्म और जीवात्मा की कल्पना केवल ब्रह्मवादी करता है, उसे सत्य मानना, क्या युक्तियुक्त और बुद्धिसंगत है ? देवी, दूसरे के शब्द पर अन्ध-विश्वास करने की अपेक्षा अपनी अनुभूति और तर्क का आश्रय लो। यह जीवन ही सत्य है। यह संसार ही सत्य है। जो पाना है इसी जीवन में पाओ !"

भाग्य और कर्मफल के संबंध में मारिश का कथन, "भाग्य का अर्थ है, मनुष्य की विवशता और कर्मफल का अर्थ है, कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान।"

इस प्रकार मारिश का जीवन-दर्शन बड़ा प्रेरक और गत्यात्मक है। वह जीवन में आस्था उत्पन्न करता है। निराशा और विरक्ति के स्थान पर आशा और संघर्ष का पक्ष लेता है। जो उसके सम्पर्क में आता है; नये ढंग से सोचने के लिए विवश हो जाता है। प्रयत्न, असफलता और जीवन के संबंध में उसका कथन है; 'असामर्थ्य स्वीकार करने का अर्थ है, जीवन में प्रयत्नहीन हो जाना जीवन से उपराम हो जाना।...जीवन में एक समय प्रयत्न की असफलता मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन नहीं है।...जिन परिस्थितियों में वह प्रयत्न विफल हुआ, वह शाश्वत न थी। निरन्तर प्रयत्न ही जीवन का लक्ष्य है। जीवन के प्रयत्न के एक अंश की विफलता सम्पूर्ण जीवन की विफलता नही है।"

मारिश नारी और नारी-जीवन के प्रति उदार दृष्टिकोण रखता है। वह नारी के शोषण के विरुद्ध है। वेश्यावृत्ति को भी वह समाज के लिए अस्वस्थकर मानता है। मथुरापुरी में बौध्द स्थविर के यह कहने पर, "वेश्या स्वतंत्र नारी है!' जब दिव्या (दासी) नागरिकों से वेश्याओं का मार्ग पूछती है और कहती है, 'मैं वेश्या बनूँगी!' तब दिव्या को बिना पहचाने मारिश उसकी भर्त्सना करता है—"तू वेश्या बनना चाहती है? माता का सम्मानित पद पाकर तू वेश्या बन समाज की शत्रु बनना चाहती है? धन के लोभ में अपना शरीर और अपनी मातृत्व की शक्ति बेचना चाहती है?..." इसी प्रकार रत्नप्रभा के यहाँ भी वेश्या के मानसिक-लोक का विश्लेषण करता हुआ वह दिव्या से कहता है, 'वेश्या की, जनपद कल्याणी की स्वतंत्रता की सार्थकता

क्या है? अपनी स्वतंत्रता से वह क्या प्राप्त करती है?...यदि कुलवधू एक पुरुष की भोग्या है तो जनपद कल्याणी वेश्या सम्पूर्ण जनपद और समाज की तृप्ति का साधन है। वह जन को कामना का संकेत देती है और उसके मूल्य में जीवन के भोगों का साधन केवल धन पाती है...इसके अतिरिक्त और क्या? वेश्या जीवन की गति अर्थात् 'काम' का उत्तेजक साधन है, परिणाम में स्वयं उसका 'काम' अर्थहीन और वंचित रहता है। उसकी कला दूसरो के जीवन में वासना की पूर्ति के अनुष्ठान के रूप में उपयोगी है। परन्तु वह स्वयं क्या पाती है? वह 'काम' के यज्ञ का साधन मात्र है। वह स्वयं पूर्ति के हविष्य से वंचित है। उसकी स्वतंत्रता का भोग जन करता है, वह स्वय नही। वह केवल वचना पाती है।"

मारिश लोकायत सिध्दान्त का समर्थक व अनुयायी है। वह जीवन की अमरता का कायल नहीं है। अमरता को ब्रह्मज्ञानियों ने परमसुख कहा है; मारिश का तर्क है—"सजीव गतिमान् है और गति का अर्थ है, एक समय और स्थान से दूसरे समय और स्थान में प्रवेश करना अर्थात् परिवर्तन! यह परिवर्तन ही गति है। गति ही जीवन है। अमरता का अर्थ है—अपरिवर्तन, गतिहीनता।...यदि सूर्य जैसे और जहाँ है, वहीं स्थिर हो जाय? यदि जलवायु जैसे और जहाँ है स्थिर हो जाय, सब स्थिर और अपरिवर्तनशील हो जायँ, सम्पूर्ण प्रकृति जड़ हो जाय? तो क्या जीवन काम्य और सुखमय होगा?" जीवन की अमरता का अर्थ मनुष्य की परम्परा है; इसीलिए मारिश वेश्यावृत्ति को निरर्थक और कुलवधू के समर्पण को सार्थक मानता है। रत्नप्रभा अपने जीवन का सिंहावलोकन करते समय मारिश के इन शब्दों का स्मरण करती है—'वेश्या देती है अपने आपको और पाती है केवल द्रव्य। परन्तु पराश्रिता कुलवधू अपने समर्पण के मूल्य पर दूसरे पुरुष को पाती है, किसी दूसरे पर भी अधिकार पाती है।...वह अपने निर्वाण से पूर्व अपने

शरीर से दूसरे दीप जलाकर, अपना प्रकाश उनमें देख पाती है। स्वयं उसके निर्वाण हो जाने पर भी उसका प्रकाश बना रहता है।...यह परम्परा ही मनुष्य की अमरता है।"

नारी पुरुष की भोग्य है और पुरुष उसे अपने अधीन रख उसे आत्मनिर्भर नहीं रहने देता। मारिश का इस सम्बन्ध में उत्तर है—'नारी प्रकृति के विधान से नहीं समाज के विधान से भोग्य है। प्रकृति में और समाज में भी स्त्री और पुरुष अन्योन्याश्रित हैं। पुरुष का प्रश्रय पाने से ही नारी परवश है। परन्तु...नारी के जीवन की सार्थकता के लिए पुरुष का आश्रय आवश्यक है और नारी पुरुष का आश्रय भी है।"

यद्यपि दिव्या मारिश के विचारों को सहज ही आत्मसात् नहीं कर लेती। पर वह उनसे प्रभावित अवश्य होती है। मारिश के प्रति उसका आकर्षण और अंत में समर्पण इसका प्रमाण है। अंत में दिव्या का समर्पण कोई परिस्थिति वश नहीं है। वह चाहती तो रुद्रधीर और पृथुसेन की तरह मारिश को भी नहीं अपनाती। मारिश के सामने वह अपनी बौद्धिक पराजय स्वीकार करती है और स्वेच्छा से आश्रय के लिए बाहु फैला देती है। उपन्यास के अंत में मारिश के ये वचन उसके दर्शन के रूप में व्यक्त हुए हैं—"...देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है।... सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।"

मारिश उपन्यास का सबसे अधिक सशक्त पात्र है। चारवाक और मार्क्स के सिद्धान्तों में पर्याप्त समानता है। मार्क्सवादी यशपाल ने चारवाक पंथी मारिश में इसीलिए अपने विचारों को सहज ही आरोपित कर

दिया है। मारिश का अस्तित्व यद्यपि उपन्यास के कथानक के विकास में कोई विशेष महत्व नहीं रखता; पर उसके व्यक्तित्व के बिना रचना इतनी प्रभावशाली भी नहीं बन पाती। मारिश उपन्यास में भटकता हुआ ही दिखाया गया है। यदि उसके जीवन की कोई व्यवस्थित संयोजना भी पाठक पाते तो वे उसके प्रति निश्चय ही और अधिक आकृष्ट होते।

## अन्य-पात्र

नारी पात्रों में दिव्या के समान और किसी का चरित्रांकन नहीं मिलता। पात्रता की दृष्टि से मल्लिका, रत्नप्रभा और सीरो के नाम प्रमुख हैं। 'मल्लिका' कला की अधिष्ठातृ, सागल की नगर-श्री राजनर्तकी है— कोकिल-विनिन्दित स्वर, किसलय कोमल अंगुलियाँ, मृणाल बाहु। दिव्या और रत्नप्रभा जैसी कलाविदों की वह गुरु-देवी है। अपनी गुरु-देवी इन्द्रा से वह कहीं आगे बढ़ी हुई है। मल्लिका आदर्श गुरु देवी है। वह अपनी शिष्याओं को अपने गर्भ की कन्या रुचिरा के समान प्यार करती है। पर, वह कला का अपमान नहीं सह सकती। मादुलिका में कला-साधना का आधार, सयम और निग्रह. न पा वह उसकी प्रतारणा करती है और अपने प्रासाद से बहिष्कृत कर देती है। दिव्या के प्रति उसका विशेष स्नेह है। मल्लिका का संगीत-समाज तत्कालीन समाज-व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखता है; जहाँ नगर के प्रमुख जन एकत्रित होते हैं। अन्त में मल्लिका रुद्रधीर के षड्यंत्र में सहयोग देती है; क्योंकि कुल-वर्ग में ही उस समय कला का पोषण संभव था। कला की प्रतिष्ठा और विकास के अतिरिक्त मल्लिका के जीवन में और कोई प्रेरणा नहीं है। मल्लिका के समान ही उसकी भूतपूर्व शिष्या 'रत्नप्रभा' भी राजनर्तकी है। रत्न-प्रभा शूरसेन प्रदेश में निवास करती है। अपनी गुह-देवी मल्लिका के समान उसमें भी गुण विद्यमान है। यमुना में जल विहार करती हुई वह

सर्व प्रथम दिखाई देती है। उसे अपने सौन्दर्य और कला का घमण्ड नही है। दासी दिव्या की प्राण रक्षा के समय वह अपने बहुमूल्य कौशेय शाटक की चिन्ता न कर उसके जल और शैवाल से भरे सिर को सकरुण गोद में रख लेती है। निर्दयी पुरोहित चक्रधर के चंगुल से छुड़ा उसे अपने यहाँ ससम्मान शरण देती है और यह जान कि वह भी मल्लिका की शिष्या है उसके प्रति अत्यन्त वत्सल हो उठती है। रत्नप्रभा वैभव और सम्मान के होते हुए भी सुखी और सन्तुष्ट नही है। राजनर्तकी वेश्या होने के कारण वह अपने जीवन को पूर्णता से वंचित समझती है। मारिश की संगति का उसके मानस पर सर्वाधिक प्रभाव पडा है। पूर्वजन्म के कर्मफल पर उसका विश्वास मारिश की संगति से ही मिटता है और वह परलोक और अमरता की कामना से विरत होकर जीवन की सार्थकता सोचती है। इसीलिए कुल-वधू बनने की लालसा प्रबल हो उठती है, पर, जैसे वह अवसर उसके हाथ से निकल गया था—अब वह किसे अपने को अर्पण कर सकती थी?' रत्नप्रभा मारिश के प्रति आसक्त अवश्य है, पर वह अपने जीवन के करुण अभाव को भरने में असमर्थ है; 'जीवन के सम्पूर्ण प्रयत्न से उसने जनपदकल्याणी की अपनी प्रतिष्ठा और वैभव का मंदिर खड़ा किया था। परन्तु इस मन्दिर में अर्चना के देवता का स्थान शून्य ही रह गया। क्या मारिश पुरुष-देवता के रूप में उस अभाव को पूर्ण नही कर सकता? परन्तु पुरुष के देवत्व की भिक्षा मारिश से माँग वह उसे क्या देगी? अपना ऊसर वार्धक्य? उस उच्छृंखल युवक पर अब वह केवल अपना वात्सल्य ही निछावर कर सकती थी।"

अत्यन्त गौर वर्ण, पीठ पर फैले पिंगल केशों पर यवन प्रथा का मुक्तावली का किरीट बाँधे सीरो सर्वप्रथम घायल पृथुसेन की परिचर्या करती हुई दिखाई देती है। सीरो मद्र गणपति मिथोद्रस की पौत्री है। वीर पृथुसेन की गंभीरता पर वह मुग्ध है। वह उसके हृदय की एक छत्र रानी

और अन्तःपुर की एक मात्र स्वामिनी बनना चाहती है। इसीलिए जब पृथुसेन ने उससे सपत्नी के रूप में दिव्या को स्वीकार करने का अनुरोध किया तो वह नागिन की भाँति फुंकार कर दूर जा खड़ी होती है। वह जम्बू द्वीप के आर्यों की कुत्सित बहु-पत्नी प्रथा के प्रति घृणा प्रकट करती है और कहती है 'आर्यों में स्त्री केवल भोग्य और दासी हैं।' अन्त में प्रेम्थ के प्रयत्न से वह पृथुसेन की अर्धाङ्गी बन ही जाती है और पृथुसेन सेनापति का पद पा जाता है। पर, सीरो में पति के प्रति एक निष्ठा का भाव नहीं है—वह वासनामयी रमणी है। तत्कालीन पुरुष सामतों की तरह यौन-पवित्रता उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। वह सबसे अधिक काम्य भोगों को भोगती और सागल के सबसे अधिक सुन्दर युवा पुरुषों से आदर की आशा करती। उसके रागरंजित ओंठ केवल मदिरा से धुलते। ···स्पर्श-सुख उसके लिए युवा-पुरुषों की बलिष्ठ भुजाओं और लोमपूर्ण कठोर वक्षस्थल के अतिरिक्त न था।' विलासिनी सीरो की यह उच्छृंखलता जब पृथुसेन को सहन न हुई तो उसने क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति फन उठा विरोध किया, "मैं तुम्हारी क्रीत दासी नहीं हूँ।..... केवल तुम्हारी अंगसेवा के लिए दासी नहीं हूँ। ..... तुम वेश्याओं से विलास नहीं करते? . ... मेरे लिए भी संसार में केवल तुम ही पुरुष नहीं हो।" सीरो को अपने वश और पितामह के पद का बड़ा घमण्ड है, "मेरी धमनियों में यवन विजेता का रक्त है।.....तुम्हें सेनापति बना सकती हूँ तो दूसरे को महासेनापति बना सकती हूँ।"

पुरुष पात्रों में रुद्रधीर और प्रेस्थ की महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत उपन्यास में उपलब्ध है। रुद्रधीर तो एक प्रकार से उपन्यास का प्रतिनायक है। उसका यह प्रतिनायकत्व; पद और अधिकार हस्तगत करने की दृष्टि से पृथुसेन के प्रति है; और दिव्या को पाने की दृष्टि से पृथुसेन और मारिश दोनों के प्रति। पर, उसका प्रथम रूप ही सक्रिय है। वह दिव्या को चाहता अवश्य है, पर इस कारण उसका पृथुसेन अथवा मारिश से

कटु विरोध नहीं है। रुद्रधीर साम्राज्य का भोक्ता है अवश्य, पर दिव्या का नहीं, इस कारण वह उपन्यास का नायक नहीं ठहराया जा सकता। दूसरे रुद्रधीर को सामान्यतः पाठक-वर्ग की सहानुभूति भी नहीं मिलती; क्योंकि उसमें साम्प्रदायिक कट्टरता बहुत है। उसे ब्राह्मणत्व का गर्व है और वह वर्णाश्रम पध्दति को मद्र में पुनः जीवित करना चाहता है। अन्त में उसके षड्यन्त्र की सफलता के कारण उसकी कार्य-सिध्दि हो जाती है। पर, दिव्या के उद्धार के सम्बन्ध में उसने जो प्रतिज्ञा की थी उसमें उसे सफलता नहीं मिली। आंशिक रूप में ही वह अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर सका—म्लेछों, दासों और शूद्रों के हाथ मद्र के द्विजकुल की राज्य-लक्ष्मी का उध्दार। रुद्रधीर गणपरिषद के संवाहक आचार्य प्रवर्धन का ज्येष्ठ पुत्र है। उसमें नेतृत्व करने की शक्ति और राजनीतिक सूझबूझ पर्याप्त मात्रा में है। अपने शत्रु के प्रति वह निर्मम है। भित्रु पृथुसेन के प्रति उसके अनुज वसुधीर के इन शब्दों से, 'शत्रु के दैन्य स्वीकार कर लेने से युद्ध का अन्त हो जाता है। यह वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा है।' उसे संतोष नहीं होता। प्रस्तुत उपन्यास में प्रेस्थ का महत्व इसलिए है कि मद्र की राजनीति का वह प्रमुख सूत्रधार है। पृथुसेन को मिलने वाली राजनीतिक सफलताओं का सारा श्रेय प्रेस्थ को ही है। प्रेस्थ घोर अवसरवादी, धन और पद का लोभी चित्रित किया गया है। समस्त मानवीय सम्बन्धों को वह इसी तुला पर तोलता है। इतने चतुर, सावधान और दूरदर्शी प्रेस्थ का इतना दयनीय अत जरा कम विश्वसनीय है। रुद्रधीर के षड्यंत्र का शिकार लेखक ने मानो उसे जानबूझ कर बनाया है।

इस प्रकार 'दिव्या'-में लेखक की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी अनेक सबलताएँ और दुर्बलताएँ मिलती हैं। व्यक्तियों का अपार जमघट होते हुए भी उपर्युक्त पात्रों की भूमिका नितान्त स्पष्ट है। 'दिव्या' वास्तव में नायिका प्रधान उपन्यास है; इसीलिए आचार्यों द्वारा निर्धा-

रित लक्षणों के आधार पर उसके नायक का निर्णय करना कठिन है। दिव्या को पाने और उपन्यास की मूल विचारधारा को रूपरंग देने के कारण मारिश का व्यक्तित्व ही नायक पद का अधिकारी समझा जाना चाहिए।

## देशकाल

बौद्धकालीन ऐतिहासिक कल्पना पर आधारित होने के कारण 'दिव्या' में देशकाल के औपन्यासिक-तत्त्व का विशेष महत्त्व स्वाभाविक है। 'दिव्या' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करने के पश्चात् निम्नलिखित देशकाल संबंधी असंगतियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं।

(१) 'दिव्या' की कथा ईसापूर्व द्वितीय शती से संबंध रखती है। घटना-चक्रों और गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र सागल है। लेखक ने उस समय सागल में गण-तांत्रिक व्यवस्था बताई है; जो इतिहास-सम्मत नहीं है। 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' के लेखक त्रिभुवनसिंह ऐतिहासिक यथार्थवाद के अन्तर्गत 'दिव्या' की समीक्षा करते हुए लिखते है, 'जिस सामाजिक संघर्ष को 'दिव्या' के अन्दर लेखक ने उभाड कर रखना चाहा है उसका चित्रण एकमात्र गण राज्य में ही संभव था; क्योंकि राजतंत्र शासन-प्रणाली के भीतर बहुत-सी ऐसी समस्याओं को उठाना सम्भव न था।' पर, इस प्रकार स्वेच्छा से तत्कालीन राज्य-व्यवस्था में परिवर्तन कर लेना ऐतिहासिक कल्पना की सीमा का अतिक्रमण करना है।

(२) 'पृथुसेन और रुद्रधीर' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत जिस रास-नृत्य का आयोजन रखा गया है वह भी तत्कालीन भारत अथवा ग्रीस का नहीं है। उस पर आधुनिक पाश्चात्य 'बाल-डान्स' (Ball Dance)

की छाया स्पष्ट है। कुलनारियों का इसमें सम्मिलित करना और भी आश्चर्यजनक है।

(३) 'धर्मस्थ का प्रासाद' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत सारिका के मुख से जो श्लोकांश कहलाया गया है वह भी काल-विरुद्ध है—'न्याय्यात्पथः पद प्रविचलन्ति धीरा।' (श्लोकांश का शुद्ध रूप है—'न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदन्न धीराः')। 'दिव्या' की कथा ईसा पूर्व दूसरी सदी से संबध रखती है जबकि भार्तृहरि का उपर्युक्त श्लोक ईसवी सातवी सदी लिखा गया है।

(४) कुछ शब्दों के काल विरुद्ध अनुचित प्रयोगों के संबध में इतिहासकार भगवतशरण उपाध्याय ने विशेष प्रकाश डाला है; यथा 'परम भट्टारक' (जो विशिष्ट अर्थ में गुप्त सम्राटों ने प्रयुक्त किया वह यशपालजी ने उनसे लगभग सात सौ वर्ष ही प्रचलित कर दिया। और वह भी गणपति के संबंध में!), 'अंगरखा' ('अंगरखे का प्रचार कुषाणों ने भारत में किया और उनका आगमन यहाँ ईसा की पहली सदी में हुआ।') आदि। इन शब्दों का प्रयोग 'दिव्या' के तीसरे-संस्करण में भी मिलता है।

(५) दिव्या देवी मल्लिका की उत्तराधिकारिणी बनकर उस पद पर तत्कालीन समाज द्वारा मान्य नही हुई। इस पर भी भगवतशरण उपाध्याय ने बताया है—" . दिव्या वेश्या तो हो सकती है, पर कला की अधिष्ठात्री नहीं हो सकती। इसे भी स्वीकार करना कठिन है। .. उन्ही दिनों लिच्छवियों में नगर की सबसे सुन्दर स्त्री को चाहे वह ब्राह्मणी ही क्यों न हो, उसी ,पद पर बिठाने की प्रथा थी जिस पर दिव्या को प्रतिष्ठित करने का उन्होंने [ यशपाल ने ] निष्फल प्रयत्न किया है।"

पर, इसमें संदेह नहीं, यशपाल जी ने तत्कालीन समाज की आत्मा को बड़ी गहराई से देखा है। बाहरी विधि-विधानों में त्रुटियाँ रहते हुए भी उपन्यास में बौध्द कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति का विश्लेषण मिलता है। उपन्यास पढ़ते समय, ऐसा प्रतीत होता है कि मानो हम उस युग की आत्मा में प्रवेश कर रहे हैं, और समस्त तत्कालीन प्रवृत्तियाँ हमें धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगती हैं।

## भाषा शैली और संवाद

उपन्यास में तत्कालीन ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक वातावरण प्रस्तुत करने में लेखक की भाषा ने पर्याप्त सहयोग दिया है। संस्कृत और पाली के शब्दों का प्रयोग विशेष चमत्कार उपस्थित करता है; पर इससे शैली जटिल नहीं हुई है। चित्रण में सांस्कृतिक गरिमा के साथ-साथ धाराप्रवाह का गुण भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त जगह-जगह कलात्मक-शैली ने विवरण में और आकर्षण उत्पन्न कर दिया है; यथा—

(१) सम्पूर्ण सागल नगरी रात्रि में दीपहीन प्रदेश की भाँति निष्प्रभ बनी रही।

[२] उस जन-प्रवाह में उत्सव का मंडप, वर्षाकाल की बाढ़ से दूर तक फैले नदी-जल में शेष रह गये छोटे-से द्वीप के समान जान पड़ता था।

[३] अंशु का मस्तक ऐसे गूँज उठा, जैसे मृदंग पर सहसा पूरी थाप आ पड़ी हो।

[४] ऊँची लम्बी नाक के नीचे मूछें दो बिच्छुओं के डंकों की भाँति गालों की ओर चढ़ी हुईं। आदि

अपने अन्य उपन्यासों की तरह यशपाल ने 'दिव्या' में भी अति शृंगारिक नारी-चित्रों का अंकन किया है। यह अवश्य है कि 'दादा कामरेड' की तरह 'दिव्या' में किसी नारी को अनावृत्त नहीं किया गया; फिर भी ऐसे चित्रों में कलात्मकता के स्थान पर वासना को प्रश्रय मिला है—

"शिथिल दिव्या के मेरुदण्ड और कटि को उसने अपने गूढ़ आलिंगन में और अधिक समेट लिया। दिव्या के कंचुक में बँधे उरोज उसके हृदय के धड़कन को आश्रय देने के लिए ही आगे बढ़ आये थे।...व्यग्र पृथुसेन के प्राण ओठों पर आकर, दिव्या के प्राणों के लिए विकल हो उठे। दिव्या के ओठों को पाकर वे उनसे पृथक् होना न चाहते थे। उसके अवश हाथ दिव्या के उरोजों के नीचे स्पन्दित प्राणों की खोज में उसके कंचुक पर चंचल हो उठे।"

इसी प्रकार नर्तकी अशुमाला की रूप-सज्जा का चित्र भी काफी चटकीला हो गया है:—

'रक्त-कौशेय में पीठ पीछे खिंच कर पूर्ण गोलार्ध बने उरोज बंधन में आकर, वागुरा खिंचे अश्व की भाँति और अधिक मुखर हो रहे थे। कटि के नीचे धानी रंग का अत्यन्त चिकना शाटक वीणा के कूष्माण्ड की भाँति नितम्बों की ओट में लेकर अधिक आकर्षक बनाये था और भ्रांति के कारण अस्पष्ट रूप से थिरकती, लंबी तूम्बी के समान जंघाओं की आकृति उसमें से व्यक्त हो रही थी। कंचुक और शाटक के मध्य अनावृत त्रिवली अपनी स्वाभाविक कमनीयता से दोनों ओर रक्त और धानी कौशेय को लजा रही थी।"

यशपाल के उपन्यासों की सबसे बड़ी दुर्बलता उनमें पाये जाने वाले मांसल और शारीरिक चेष्टाओं से युक्त नारी के चित्र हैं। 'दिव्या' में फिर भी उन्होंने काफी संयम से काम लिया है। यशपाल प्रणय-चित्रों

के अंकन असफल रहे हैं। बिना आलिंगन-चुम्बन के वे प्रणय-चित्र अंकित कर ही नहीं सकते। श्रेष्ठ कला की दृष्टि से ऐसा वर्णन अनपेक्षित ही समझा जायगा।

'दिव्या' में कलात्मक-शैली के अतिरिक्त प्रतीक-शैली का भी बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। मूर्तिकार दार्शनिक मारिश शिलाखंड को जिस नारी-मूर्ति में परिणत करता है वह प्रतीक-शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। "शिलाखंड का ऊपर और नीचे का भाग अछूता था। केवल बीच में आधा भाग लेकर, जैसे गवाक्ष खोलकर, पूर्ण युवा नारी का एक उन्नत स्तन, त्रिवली पर भीतर झुकाव और नाभी से फैलता उभार दिखाई दे रहा था।" रत्नप्रभा के कथन पर, 'यह नारी का अंग मात्र नहीं यही अंग नारी के नारीत्व की सार्थकता के लिये पुरुष का आह्वान करता है फिर उस फलीभूत सार्थकता का पोषण करता है। यही नारी है, देवी; नारी और नारी-जीवन के सम्बन्ध में मारिश के विचार, उक्त चित्र और उसकी व्याख्या से, स्पष्ट हो जाते हैं!

यशपाल एक कुशल संवाद लेखक हैं। औपन्यासिक कला की दृष्टि से उनके संवाद निर्दोष हैं। वे छोटे और पात्रानुकूल होते हैं; जिससे वे कहीं भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होते। इसके अतिरिक्त उनके संवादों में नाटकीयता विशेष रूप से मिलती है। 'दिव्या' में यशपाल की संवादगत ये सभी विशेषताएँ देखी जा सकती है। भावावेश और बौद्धिक विचारों—दोनों को वाणी का रूप देने में उनकी कला द्रष्टव्य है।

## दृष्टिकोण

यशपाल इतिहास का विश्वास की नहीं विश्लेषण की वस्तु मानते हैं। 'इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा में आत्म विश्लेषण है। इतिहास का तत्व विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति और समाज की रचनात्मक

क्षमता का विश्लेषण करता है। मनुष्य केवल परिस्थितियों को सुलझाता ही नहीं, वह परिस्थितियों का निर्माण भी करता है।...अतीत में अपने रचनात्मक सामर्थ्य और परिस्थितियों के सुलझाव के अपने प्रयत्नों के परिचय से जाति वर्तमान और भविष्य के सुलझाव और रचना के लिए निर्देश पाती है।' (प्राक्कथन)

'दिव्या' के सन्देश और वर्तमान में उसके औचित्य के सम्बन्ध में श्री यशपाल का कथन है :

'दिव्या' का सन्देश यही समझा जा सकता है कि अपने अतीत के सामाजिक अनुभवों के विश्लेषण के आधार पर हम जीवन के अंतर-विरोधों को दूर करने का यत्न करें। हमारे अतीत में हमने अपने विश्वासों और संस्कारों को किस प्रकार बदला है, श्रेणी संघर्ष किस प्रकार अदमीनय रूप से समाज की व्यवस्था में परिवर्तन करता आया है, किस प्रकार तर्क विश्वास पर विजय प्राप्त करता रहा है, नारी दमन में रहकर किस प्रकार अपनी भावनाओं को बनाये रही है।

दास प्रथा आज प्राचीन रूप में नहीं है, परन्तु दास प्रथा का मूल प्रयोजन एक श्रेणी द्वारा दूसरी श्रेणी का शोषण तो आज भी है। एक समय दास की शारीरिक शक्ति का शोषण स्पष्ट था; आज आर्थिक व्यवस्था के पर्दे में प्रच्छन्न है। प्राचीन काल के शोषण को यदि हम नैतिक नहीं मान सकते तो आज के शोषण को कैसे मान लें?" (लेखक को प्रेषित यशपाल के व्यक्तिगत पत्र का अंश)

उपन्यासकार की इतिहास और 'दिव्या' के सम्बन्ध में उपयुक्त मान्यताएँ बिना किसी विवाद के स्वीकार्य हैं। 'दिव्या' समस्यापूर्ण और रोचक कृति है। वह वर्तमान समस्याओं का अतीत के रंग में विश्लेषण है।